ISSN 2230-7001

The Journal of Indian Thought and Policy Research

(द जर्नल ऑफ इण्डियन थॉट एण्ड पॉलिसी रिसर्च)

(English & Hindi Bilingual Research Journal)

Year: 9 Issue: 1 April 2019

Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth, Prayagraj

ISSN 2230-7001

The Journal of Indian Thought and Policy Research

द जर्नल ऑफ इण्डियन थॉट एण्ड पॉलिसी रिसर्च

(An English-Hindi Bilingual Peer Reviewed/Refereed Research Journal)

Year 9 | **Issue : 1** | **April 2019**

Founder Patron
Shri Ashok Singhal
Patron
Dr. Mahesh Mehta

Advisory Board
Dr. Murli Manohar Joshi
Dr. subramanian Swamy
Dr. Bajrang Lal Gupta
Dr. Mahesh Chandra Sharma

Editorial Board
Prof. Girish Chandra Tripathi
Prof. Susheel Kumar Sharma
Dr. J.P. Mishra
Dr. Chandra Mauli Tripathi

Editor
Dr. Chandra Prakash Singh

Editorial Address : Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth
21/16, Mahaveer Bhavan, Hashimpur Road, Tagore Town, Prayagraj-211002 (U.P.)
E-mail : nationalthought@gmail.com Tel. & Fax : 0532-2466786

Cite this issue as : 9 JITPR (I) 2019
Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth 2019

No part of this journal can be printed, published, photo copied, reproduced or stored in any retrievable system except with prior written permission of the proprietors of this publication.

It is clarified that the views expressed by the author of the articles published in the journal are their own and may not reflect the views of the Members of the Editorial Board.

Printed and Published by Dr. Chandra Prakash Singh at Prayagraj for the proprietors, Arundhati Vashishtha Anusandhan Peeth, 21/16, Mahaveer Bhavan, Hashimpur Road, Tagore Town, Prayagraj-211002 (U.P.)

CONTENTS

1.	संपादकीय	5
2.	Prof. Brahma Dutta Sharma **The Challenges before the Indian Culture**	9-19
3.	Maria Wirth **Science and Religion**	20-31
4.	Sudhir Kumar **Who is Afraid of Deen Dayal Upadhyaya? .....**	32-62
5.	Om Prakash Dubey **In Defence of India if Declared a Hindu Nation**	63-65
6.	Yogesh A. Kulkarni **Education for Strong India**	66-70
7.	प्रो. दीनबन्धु पाण्डेय **झेलम के तट पर सिकन्दर की हार**	71-94
8.	डॉ. रसाल सिंह **वैदिक वाङ्मय में नारी-चिन्तन**	95-98
9.	अजीत प्रताप सिंह **वर्तमान सन्दर्भों में पं. दीनदयाल उपाध्याय**	99-107
10.	ओम प्रकाश मिश्र **हिन्दू एक दृष्टि**	108-116
11.	अशोक मेहता **संचार माध्यम और भारतीय संस्कृति**	117-123

सम्पादकीय

पुनर्बोध

भारत के अतीत में यदि झाँका जाए तो बार-बार मन में एक प्रश्न उत्पन्न होता है, क्या हम स्वतंत्र हो चुके हैं? आज की शिक्षा में शिक्षित प्रबुद्ध वर्ग को यह प्रश्न कुछ अटपटा लगेगा, क्योंकि उन्होंने जो पढ़ा और सुना है, उसके अनुसार 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र हो गया। उसकी अपनी विधायिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका है जो भारत के लोगों द्वारा संचालित है। भारत के प्रत्येक वयस्क नागरिक को मत के द्वारा विधायिका में अपना प्रतिनिधि चुनने का अधिकार है। प्रश्न उठता है अब हमें किस प्रकार की स्वतंत्रता चाहिए? लेकिन एक प्रश्न और उठता है कि हम अंग्रेजों से स्वतंत्र होना क्यों चाहते थे? क्या केवल कुछ भारतीयों के हाथ सत्ता स्थानान्तरण के लिए या हमारे मूल राष्ट्रिय चरित्र स्वभाव और वैशिष्ट्य को बदलने के लिए अंग्रेजों द्वारा जो प्रयत्न हुए हुए थे उन्हें दूर कर पुनः अपने प्राचीन गौरव और वैशिष्ट्य को प्राप्त करने के लिए? लेकिन दुर्भाग्य यह है कि अंग्रेजों द्वारा स्थापित शिक्षा पद्धति के द्वारा शिक्षित समाज यह भूल चुका है कि वाह्य आक्रमणों के पूर्व उसका कोई वैशिष्ट्य भी था या इस राष्ट्र की कोई मूल प्रवृत्ति भी है।

हम स्वतंत्र भले ही हो गए लेकिन अपने राष्ट्र पर गौरव करना नहीं सीख सके। इसका एक मात्र कारण है कि हमें हमारे राष्ट्र के विषय में कोई जानकारी ही नहीं है। आज भी भारत का एक बहुत बड़ा पढ़ा-लिखा वर्ग भारत में ब्रिटिश राज्य को वरदान के रूप में देखता है। उनका यह मानना है कि भौगोलिक एकता, कार्यपालिका, न्यायिक संस्थाएं, शिक्षा, विज्ञान व तकनीकी ज्ञान आदि अंग्रेजों की देन हैं। क्या वास्तव में यह सत्य है कि भारत की कोई सांस्कृतिक एकता नहीं थी, भारत कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान, उद्योग-व्यापार और शिक्षा एवं संस्कार से रहित असभ्य सपेरों का देश था? हमें इसकी सत्यता को जानने के लिए 18 वीं शताब्दी और उसके पूर्व के भारत को जानना पड़ेगा। यानी अंग्रेजों के आने के पूर्व का भारत कैसा था। यद्यपि उस भारत ने भी लगातार छः शताब्दियों तक विदेशी आक्रान्ताओं का सामना किया था, लेकिन राज्य सत्ता पर परकीय आधिकार के बाद भी अपनी सामाजिक संस्थाओं, कला-कौशल, उद्योग-व्यापार,और शिक्षा-संस्कार को बहुतांश में संरक्षित रखने में सफल रहा था, परन्तु आज हम इस सत्यता से अनभिज्ञ हैं।

स्वतंत्रता के पूर्व अंग्रेजों ने हमें हमारी जड़ों से दूर करने का प्रयास किया। अपने स्वार्थों के लिए हमारे कला-कौशल, ज्ञान-विज्ञान और उद्योग-व्यापार को नष्ट करने का जो दुष्चक्र उन्होंने रचा और उसके परिणामस्वरूप हमारी जो दुरावस्था उत्पन्न हुई उसके लिए उन्होंने हमें ही दोषी ठहराया। उन्होंने यह बताने की कोशिश की कि हम अनादि काल से मुर्ख, जाहिल, दरिद्र और अज्ञानी हैं। हम भी बहुत शीघ्र अपनी वास्तविकता को भूल गए

और अंग्रेजों ने जो बताया उसे सत्य मान लिए। अंग्रेजों द्वारा अपने व्यक्तिगत एवं शासकीय कार्यों के लिए जो गुप्त पत्रावलियां जारी की गईं उसमें भारत के सम्बन्ध में कुछ और सत्यता प्रकट होती है, जबकि सार्वजनिक रूप से दुनिया के सामने उन्होंने कुछ और ही बात कही। आज तो हम यह मान चुके हैं कि अपनी इस अवस्था के लिए हम स्वयं जिम्मेदार हैं, अंग्रेजों ने तो हमारे ऊपर शासन कर हमारा बहुत बड़ा उपकार किया। यहाँ तक कि देश के प्रधानमंत्री रहते मनमोहन सिंह जैसे व्यक्ति ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में अंग्रेजों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते समय ऐसे ही उद्गार व्यक्त किये। वास्तव में स्वतंत्रता के बाद हमें अपनी शिक्षा प्रणाली के माध्यम से अपने मूलस्वभाव और अस्मिता को जानने का प्रयास करना चाहिए था, वह नहीं हुआ। यहाँ तक कि अंग्रेजों के आने से पहले हमारी क्या और कैसी अवस्था थी इससे हम बहुतांश अनभिज्ञ हैं।स्वतंत्रता के पश्चात् हमारी शिक्षा प्रणाली ने हमें मार्ग दिखाने के स्थान पर भटकाने का ही अधिक प्रयास किया और आज भी वही हो रहा है।

ऐसा नहीं है कि हमारे विद्वानों को इसकी जानकारी नहीं थी या उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ लिखा नहीं। दादाभाई नौरोजी, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, रमेशचन्द्र दत्त, महामना मदनमोहन मालवीय, शाखाराम गणेश देउस्कर, विपिनचंद्र पाल, राधाकुमुद मुखर्जी, जयचंद विद्यालंकार, सत्यकेतु विद्यालंकार, प्राणनाथ विद्यालंकार,विश्वनाथ काशीनाथ रजवाड़े, काशी प्रसाद जयसवाल, सुन्दरलाल जैसे लोगों के लेखन से अंग्रेजों के पूर्व भारत क्या था, कैसा था और अंग्रेजों ने उसके साथ क्या किया, इस सम्बन्ध में बहुत सी जानकारी प्राप्त होती है। भारत के स्वतंत्र होने के बाद निरंतर चालीस वर्ष के अध्यवसाय द्वारा, कोलकाता, मुंबई और चेन्नई के अभिलेखागारों तथा इंग्लैण्ड के अभिलेखागारों में सरकारी पत्रावलियों का अध्ययन कर भारत के सम्बन्ध में धर्मपाल ने जिस सत्य का उद्घाटन किया है, आज के शिक्षा-प्रणाली द्वारा पढ़े व्यक्ति को उसे स्वीकार कर पाना भी आश्चर्यजनक लगता है।

भारत के सम्बन्ध में अंग्रेजों ने एक भ्रम यह भी पैदा किया कि भारत प्राचीन काल से ही एक कृषि प्रधान देश है। यहाँ के लोग उद्योग एवं व्यापार में कभी कुशल नहीं रहे। सन् 1916 में गठित भारतीय औद्योगिक कमीशन की रिपोर्ट पर असहमति प्रकट करते हुए वायसराय की परिषद् में महामना मदनमोहन मालवीय ने कहा था कि यह रिपोर्ट भारतीयों और योरोपियनो की व्यावसायिक क्षमता के विषय में भ्रामक विचार पैदा करती है।[1] महामना ने कहा कि बंगाल की पुरानी राजधानी मुर्शिदाबाद में जब क्लाइव ने, सन् 1557 ई. में प्रवेश किया, तो उसके विषय में लिखा है- ' यह शहर लन्दन की तरह घना बसा हुआ है, और उसी के समान विस्तृत और समृद्ध है। अंतर इतना ही है कि लन्दन की अपेक्षा यहाँ के नागरिक अधिक धनवान और समृद्ध हैं।'[2] मालवीय जी ने आगे कहा कि सन् 1890 में सर हेनरी कॉटन ने लिखा है कि ' अभी पूरे सौ वर्ष भी नहीं हुए कि ढाका में करीब एक करोड़ का व्यापार होता था और उसकी जनसंख्या लगभग दो लाख थी। सन् 1757 ई. में ढाका से इंग्लैंड को लगभग

1. महामना के विचार, पृष्ठ 184, प्रकाशन - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
2. महामना के विचार, पृष्ठ 187, प्रकाशक - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय (सन् 1890 ई. से पूर्व प्रकाशित, एच.जे.एस. काटन द्वारा लिखित नवीन भारत में)

तीस लाख रुपये की मलमल भेजी गयी, और 1817 में यह बिल्कुल बंद हो गई। जिस कताई-बुनाई की कला से युगों तक लाखों व्यवसायियों की जीविका चलती थी, वह अब बिल्कुल नष्ट हो गई है। जो परिवार पहले धनीमानी थे अब उन्हें शहर छोड़कर देहात में चले जाना पड़ा है।...यह अवस्था केवल ढाका की नहीं, अपितु प्रत्येक जिले की हुई है।[3] सन् 1810 ई. के आसपास दक्षिण भारत के सभी जिलों में 10,000 से 20,000 के लगभग हथकरघे थे।

एक सामान्य अनुमान के अनुसार उस समय भारत में लोहे और फौलाद के उत्पादन के लिए 10,000 के लगभग भट्टियाँ थीं। इन भट्टियों की क्षमता एक वर्ष में 40 सप्ताह काम करके 20 टन उत्तम लोहा उत्पादन करने की थी।[4] भारत के औद्योगिक सामर्थ्य का पता इस बात से चलता है कि उस काल में भारत लगभग 1,00,000 टन उत्तम प्रकार के इस्पात का निर्माण करता था।[5] उस समय शिल्पी, चित्रकार, मकान बनानेवाले कारीगर भी थे। साथ ही चीनी, नमक, तेल तथा अन्य वस्तु का उत्पादन करनेवाले भी थे। सन् 1800 के आस-पास हस्तकला एवं अन्य उद्योगों में 15 से 25 प्रतिशत भारतीय विभिन्न प्रान्तों में थे।[6] सन् 1800 ई. के आसपास के समय में मोतियाबिंदु और प्लास्टिक सर्जरी का काम भारत के विभिन्न प्रान्तों में होता था।[7] अंग्रेजों ने पूना में सन् 1790 के दशक में प्लास्टिक सर्जरी देखी और उसी कालखंड में ब्रह्मदेश (म्यांमार) में तेल के कुएँ देखे तब इसकी जानकारी इंग्लैण्ड पहुंची और ब्रिटेन में वर्तमान प्लास्टिक सर्जरी पद्धति का विकास हुआ।[8] चेचक निवारण टीकाकरण की व्यापक भारतीय पद्धति का अठ्ठारहवी शताब्दी के मध्य भारत में रहनेवाले अंग्रेजों ने उपयोग किया।[9]

अंग्रेजों के आने के पूर्व भारत की कृषि भी अति उन्नत थी। उस समय भारत वर्ष से साढ़े सोलह करोड़ रुपये का गेहूं और चावल विदेश भेजा जाता था।[10] खेती की पद्धतियों में बहुत वैविध्य दिखाई देता था। जैसे की बीज का चयन, उसकी देखभाल, विविध उर्वरक, बुआई और सिंचाई की विकसित और युक्तिपूर्ण पद्धतियाँ अपनाकर भारत का किसान प्रचुर मात्रा में फसल प्राप्त करता था। सन् 1803 के ब्रिटिश अभिलेख के अनुसार प्रयागराज (इलाहाबाद) वाराणसी क्षेत्र की खेती की उपज एवं ब्रिटेन की खेती की उपज की तुलना करने पर ब्रिटेन में गेहूं की

3. महामना के विचार, पृष्ठ 187, प्रकाशक - काशी हिन्दू विश्वविद्यालय (सन 1890 ई. से पूर्व प्रकाशित, एच.जे.एस. काटन द्वारा लिखित नवीन भारत में)
4. धर्मपाल - भारत का पुनर्बोध, पृष्ठ 238, प्रकाशन - पुनरुत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद
5. धर्मपाल - भारत का पुनर्बोध, पृष्ठ 261, प्रकाशन - पुनरुत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद
6. धर्मपाल - भारत का पुनर्बोध, पृष्ठ 238, प्रकाशन - पुनरुत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद
7. धर्मपाल - भारत का पुनर्बोध, पृष्ठ 238, प्रकाशन - पुनरुत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद
8. धर्मपाल - भारत का पुनर्बोध, पृष्ठ 255, प्रकाशन - पुनरुत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद
9. धर्मपाल - भारत का पुनर्बोध, पृष्ठ 238, प्रकाशन - पुनरुत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद
10. सखाराम गणेश देउस्करः देश की बात, पृष्ठ 22, प्रकाशक - नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली

पैदावार से यहाँ तीन गुना अधिक पैदावार दर्ज की गई।[11] अन्य व्यवसायों के बंद हो जाने से खेती पर भारी बोझ और अत्यधिक कराधान के कारण कृषि चौपट हो गई। सन् 1891 से 1901 की जनगणना में भारत की जनसंख्या 70,19,000 बढ़ी, जबकि कृषि कार्य करनेवालों की जनसंख्या दो करोड़ बढ़ गई।[12]

भारत की शिक्षा के सम्बन्ध में अंग्रेजों ने व्यापक सर्वेक्षण कराया । ये सर्वेक्षण सन् 1820 से लेकर 1840 तक भारत की शिक्षा की स्थिति की व्यापक जानकारी देते हैं।इन सर्वेक्षणों में सर्वाधिक प्रसिद्ध विलियम एडम का सर्वेक्षण है। उसने अपने विवरण में लिखा है कि सन् 1830-40 के वर्षों में बंगाल और बिहार के गांवों में एक लाख के लगभग पाठशालायें थीं।[13] मुंबई एवं मद्रास प्रेसीडेंसी के सर्वेक्षणों में भी भारत में शिक्षा का स्तर बहुत उच्च था, शिक्षा समाज के सभी वर्गों तक व्याप्त थी। दक्षिण भारत के विद्यालयों में बालिका और पिछड़ों की प्रतिशत संख्या अधिक थी। अंग्रेजी राज्य में शिक्षा के सरकारीकरण द्वारा योजना पूर्वक भारतीय शिक्षा को नष्ट कर दिया गया।

अंग्रेजों ने भारत को आर्थिक, शैक्षणिक और नैतिक सभी प्रकार से कमजोर किया। दादाभाई नौरोजी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मोरल पावर्टी ऑफ़ इण्डिया' में लिखते हैं 'अंग्रेजों के धन हरण के कारण भारतवासी केवल गरीब ही नहीं हो रहे हैं, वरन उनकी अच्छी चालचलन भी ख़राब हो रही है। भारत की यह हानि साधारण हानि नहीं है, धन नाश से यह कम दुःखदायी नहीं है।[14]

छः सौ वर्षों के मुस्लिम आक्रान्ताओं एवं दो सौ वर्षों के ब्रिटिश गुलामी में भारत ने अपना बहुत कुछ खोया। आज काल एवं परिस्थिति के परिवर्तन के कारण उसे पुनः यथावत रूप में भले ही स्थापित न किया जा सके, परन्तु राष्ट्र की मूलचेतना और प्रकृति के अनूकुल पुनर्रचना के बिना वास्तविक स्वतंत्रता की अनुभूति नहीं की जा सकती।

आज राष्ट्र की चेतना व्याकुल है। वह कुछ खोज रही है, जिसका हमें बोध नहीं है। उस बोध के लिए हमें अतीत में झांकना पड़ेगा; गहन अनुसन्धान करना पड़ेगा, फिर उस मीमांसा के आधार पर शिक्षा से अर्थव्यवस्था तक सभी संरचनाओं को पुनर्स्थापित करना पड़ेगा।

'द जर्नल ऑफ़ इंडियन थॉट एंड पालिसी रिसर्च' में ऐसे ही आलेख प्रकाशित करने का लक्ष्य है जो राष्ट्र की मूल चेतना, प्रवृत्ति एवं स्वभाव का बोध तथा विविध क्षेत्रों की पुनर्रचना के सूत्र पर भी प्रकाश डालते हैं। देश के विद्वानों को इस हेतु अपना राष्ट्रिय कर्तव्य मानकर गहन अनुसन्धान एवं चिंतन के द्वारा राष्ट्र के दिशा-बोध में संलग्न होने की आवश्यकता है।

डॉ. चन्द्र प्रकाश सिंह

11. धर्मपाल - भारत का पुनर्बोध, पृष्ठ 239, प्रकाशन - पुनरुत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद
12. सखाराम गणेश देउस्करः देश की बात पृष्ठ, 22, प्रकाशक - नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली
13. धर्मपाल - रमणीय वृक्ष, पृष्ठ 19, प्रकाशक - पुनरुत्थान ट्रस्ट, अहमदाबाद
14. सखाराम गणेश देउस्करः देश की बात पृष्ठ, 33, प्रकाशक - नेशनल बुक ट्रस्ट, दिल्ली

The Challenges before the Indian Culture

Prof. Brahma Dutta Sharma*

The challenges the Indian culture is facing these days are of two kinds, namely the intrinsic challenges, and the extrinsic ones. The intrinsic challenges include ignorance, misconceptions and misrepresentations. And the extrinsic challenges include vilifying propaganda, mischievous use of money power, hostile use of the sword and bullets, and population manipulation. Let us take them one by one and see how each of them is posing a threat to the survival of the Indian culture.

Ignorance is the first challenge posed to Indian culture as there is a wide-spread confusion in our country on the question as to what we mean by Indian culture. Many of our views are replete with misconceptions, prejudices, half-truths and misrepresentations.

There are people who hold that the Indian culture over-emphasizes asceticism and neglects the immediate needs of life including material advancement. Such people support their stand by citing the example of scientific advancement in the West and suggesting thereby that the Indians' contribution to the scientific advancement of the world is negligible. They assert that most of the machines and engineering goods were invented by Europeans: Newton discovered the gravitational force of the earth, George Stephenson invented the railway train, and so on, they hold that man needs to know spiritual and metaphysical questions like why the universe came into existence and who runs the universe for what purpose, in the long run no doubt, but in the short run he needs tools like a wrist watch to know the time, a bike to take him to his office, an electric bulb to enable him to illuminate his room at night, and a computer to send message in a legible form. They advance the view that the Indians' have done little to make human life comfortable and lets toilsome by inventing such tools and machines.

*Ex-Professor & Head, Department of English & Director, DSB Campus, Kumaun University, Nainital-263102 (India) Mobile: 09897592176, Email: sharmaprofbd@yahoo.co.in.

No doubt, neither the railway train nor the spacecraft, nor the electricity, nor the aeroplane, nor the electric bulb, nor the electric fan nor the motor car, nor even the bicycle was invented by an Indian, but the achievements of the Indians in the field of science too are not less remarkable than those of the Europeans: the whole herbal medical science called Ayurveda came into being in India, Panini whose work in the field of Linguistic Sciences is matchless to this day and who discovered linguistic rules which have no exception, was an Indian; the numerals which the European call Arabic were created by Indian mathematicians, the concept of the zero was born in India, the Indian name of the science of Geography named 'Bhoogol' (the round earth) itself proves that Indians knew in their hoary past, the fact discovered by the Europeans only recently, that the earth is round, the movements of the planets and the sun have been being studied and solar and lunar eclipses have been being foretold by our Panchang (Indian calendar) makers since times-immemorial and thus our achievements in the field of the science of Astronomy are surprising.

People tend to believe that Indian culture is a culture that expects its votaries to remain apathetic to the political, social, economic and military affairs of even their own country and to lead a lonely life, somewhere in the Himalayas. But the fact remains that the Indian culture focuses its attention on the whole of life and assigns to man the duty to make it move in the right direction. Indian culture is an activity-centred life and encourages right kind of activity. The successful man in our religious stories is one who leads a life of prosperity here and then goes to heaven hereafter.[1] Lord Krishna says in the *Gita* that there are people for whom the enjoyment of what pleases the senses is the final end of life but one who is interested in the realization of the self does not care much for them and the other materialistic possessions.[2] This signifies that the Indian culture neglects neither material progress, nor the spiritual one, though it is aware of the fact that the spiritual progress or the progress towards the realization of the self is more important of the two.

1. इहलोके सुखं भुक्त्वा याति विष्णोः सनातनम्- पद्मपुराणम् - 39/133
2. भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
   व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।। श्रीमद्भगवत गीता - 2/44
   त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
   निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।। श्रीमद्भगवत गीता - 2/45

Another misconception about the Indian culture is that it stands for inaction and passivity. They often quote the Hindi poet Malookdas who says that just as a python does not serve anybody and no bird does any work at all, in the same way a human being is expected neither to serve anybody nor to do any work, and that God arranges food for each and everybody.[3] But the fact remains that the Indian culture expects a man to be industrious and to make remarkable achievements through industry. The fact comes to light when we read Lord Krishna's words that a man ought to work without expecting any fruits of his labour with the view that it is his duty to do so because if he does that he is able to realize the perfection.[4] He adds that work is needed even to keep the world going.[5] Lord Krishna illustrates this statement of his when he says that kings like Janaka made extraordinary accomplishments through work and a man should work also in view of giving other people right kind of lessons.[6]

The Indian culture is fully aware of the fact that nothing can be made in this world unless somebody makes it. If I like to get a house made, I shall have to make somebody or some people make it. If I like to write a book, I shall have to write it and unless I write it, it will not come into existence. In order to make this world go on, we have to produce food, we have to produce cloth, we have to build houses, we have to produce paper, pens, ink and inkpots, we have to open educational institutions, hold classes, arrange examinations and award degrees. None of these things can be done unless people choose to do them. That is why we say work is necessary to keep the world going. So even common sense makes it possible for us to understand that unless people work, the world, as it is, cannot go on.

Some people may say that since birds and insects do no work, unless man uses them to achieve his ends, and yet they survive. Yes, I agree with them to the extent that these lower animals do survive without doing any work, but I also disagree with them

3. अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम।। मलूकदास की वाणी

4. तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पुरुषः ।। श्रीमद्भगवत गीता - 3/19

5. नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ।। श्रीमद्भगवत गीता - 3/8

6. कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ।। श्रीमद्भगवत गीता - 3/20

because the animals have not been able to build any kind of civilization. And since man works he has been able to build the existing civilization. So this argument also leads us to the same conclusion. Lord Krishna, who advises Arjuna, to become a practitioner of Yoga while doing his work, defines 'Yoga' as mastery in one's professional work.[7]

Never in the known history of mankind have Indians attacked any foreign country for subjugation even though India has been attacked by aggressors from the Middle East, the central Asia, and even distant countries of Europe like England. This is a proof of the fact that Indian culture does not favour imperialism and colonization. The fact of the matter is that Indian culture regards the whole world as one single family.[8] This fact finds reflection in the sage's wish in the Veda that all should be happy, all should be free from diseases, all should enjoy well-being, and nobody should experience any grief.[9]

However, the Indian culture does not turn a blind eye the fact that these exist in this world both the evil and the evil-doers. Though Lord Krishna unambiguously declares in the *Bhagwadgita* that He incarnates Himself in every age to protect the noble-natured people and to crush the evil doers and to restore the reign of the righteous living.[10]

People tend to put all in one single category and treat the whole mankind as one homogeneous group. Many of the people are suffering from the Arjuna syndrome and fail to recognize the existence of the evil in the world and regard all, including evil-doers as "ours". But that approach is faulty and impractical because it tries to forget the unpleasant side of the coin. The Indian culture expects one to take each and every corner of life into consideration and expects one not only to work for the promotion of the righteous but also to destroy the evil-doers altogether. Lord Krishna declares

7. बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
   तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।। श्रीमद्भगवत गीता - 2/5
8. अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
   उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।। महोपनिषद् - 4/71
9. सर्वेषाम् मंगलम भूयात सर्वे सन्तु निरामयाः।
   सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख भागभवेत ।। गरुण पुराण - 35/51
10. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
    धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।। श्रीमद्भगवत गीता - 4/8

unequivocally that He incarnates Himself when the Dharma is on the decline and the Evil is in the state of ascendancy, so that He sets things right.[11]

These people try to give the impression that the Indian culture is a non-resisting culture believing in the principle that non-violence is one's ultimate duty.[12] Lord Krishna unambiguously tells Arjuna in the *Gita* that being a warrior he should know that no other duty for a man from the warrior class is more important than fighting for the right cause and that it is unbecoming on his part to feel hesitation in resolving to fight.[13] It is below human dignity not to protect one-self when attacked by a wrong-doer and if one allows oneself to be stone-pelted at, to be made an object of aggression by wrong-doers and to be vanquished, one is abstaining from one's duty and is violating the principles upheld by the Indian culture. Even in the recent history of India we have seen that a neighbouring country has been fighting India for about seven decades and India has been responding to the attacks by sheer inaction, that is, by refraining from retaliation. We have seen how our soldiers are being stone-pelted at, nay even pushed down and humiliated by their adversaries for no fault and they have been only pocketing the insults. This behaviour involves a serious violation of the principles of Indian culture. India believes in resisting evil in all its forms. Indians rarely allowed aggressors to enter our country without resistance, be he Alexander, be he Mohammad Gauri, be he Dalhousie, be he Ayub Khan. No doubt, we did not always succeed in winning battles; we resisted almost every aggression in one form or the other. Can we forget how Laxmibai, the Rani of Jhansi, fought the forces of Dalhousie?

It is not only unwise but also cowardly for a community not to have a suitable protective force and not to use it. Many of the communities which took no or weak protective measures found themselves exterminated. For example, the Red Indians of America have been almost exterminated because they failed to protect themselves from the onslaughts of the aggressive whites of Europe. Likewise, the aborigines of Australia have been exterminated almost completely from the continent of Australia which once belonged to them. In India itself about three lakh (three hundred thousand) Hindus who

11. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। श्रीमद्भगवत गीता - 4/7

12. अहिंसा परमो धर्मः ।। (महाभारत, वन पर्व, अध्याय 207/74 – मारकण्डेयसमस्यापर्व)

13. स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।। श्रीमद्भगवत गीता - 2/31

regarded the valley of Kashmir as their sole and exclusive homeland have been wiped from that valley and have become homeless refugees here and there. That is why I say that a community not having a suitable protective force is unwise. The history of the communities living in different parts of the world is an ample proof of the fact that when a community migrates from one land to another, it tries to eliminate its predecessor and rarely chooses to adopt the principle of peaceful-co-existence. No doubt, Indians do not attack any other community in order to subjugate but the Indian culture expects Indians to protect themselves adequately. One of the proofs in support of this fact is that every Devata and Devi of the Hindus has at least one weapon in one of his/her hands: Lord Vishnu has the Sudarshan Chakra in one hand and the *gada* (=club) in one of the other three hands, Lord Shiva carries a *Trishula* (=trident) is his hand and Durga bears a sword to cut the head of the demons.

There have been countless occurrences in which Indians crossed the borders in order to punish the aggressors and staged surgical strikes, as it is a ruler's duty to punish the aggressor and not to submit before him. Lord Krishna regards one who shirks his duty as a protector of his land, as a eunuch when he asks Arjuna to overcome his cowardice and rouse himself to fight.[14] In the ancient days Lord Ram's army entered Lanka, the kingdom of Ravana, to save Sita from Ravan's clutches. Both Valmiki and Tulsidas have given the details of the attack in their respective epics *Ramayana* and *Ramcharita Manas*.

Now I turn to the extrinsic challenges. The first of them is the vilifying propaganda that is being carried on by hostile people and communities.

One day I went to a church in the city of Meerut and heard the priest's sermon there. I heard the preacher telling people that they were expected to be different from the Hindus as the Hindus trained their children in becoming abusive in their language and becoming fluent in using abusive words while talking to their opponents. I have not come across any Hindu family in which they give such training to their sons and daughters. I wonder whether this preacher was making such a statement just to vilify the Hindus and the Indian culture or to achieve some other end of the kind.

14. क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ।। श्रीमद्भगवत गीता - 2/3

Secondly, usually they exaggerate the Hindus' not being fair in their treatment towards the people engaged in the works of cobbling, shoe-making and scavenging. For example, Raj Kumar does this in the following words: "Dalits are 'the other' in Indian society. Popularly known as untouchables in the Hindu caste system, they are the helpless victims of the caste oppression over millennia. As a people they are treated as 'low' and looked down upon in all spheres of social life. The upper caste Hindus, at various points [of time] in the past, have systematically attempted to annihilate them from the pages of Indian history."[15] No doubt, we have the four Varna social system in the Hindu society, and there must have been unhappy incidents of oppression here and there, the members of the four Varnas have been living harmoniously for ages. The system is not much different from the modern practice of division of labour.[16] Moreover, the Indian culture does not support the practice of regarding anybody as low on account of his Varna, as it has been said in the *Gita* that the learned people make no discrimination between a well-educated and well-behaved Brahmin, a cow, an elephant, a dog and a scavenger, and remain impartial.[17]

Money power is another tool that is being used to wipe off Indian culture and convert people to Christianity and the like. There are numerous cases in which people take undue advantage of a man's poverty and tempt him to embrace Christianity, or Islam by offering money for his children's education or some well-paid job. In Mulk Raj Anand's novel *The Untouchable* Bakha, a scavenger, goes to the Christian priest Colonel Hutchinson, not because he is interested in Jesus Christ or his teachings but because he hopes the Christian preacher will give him a pair of white trousers. The narrator reports Bakha's thoughts in the following words:

> Bakha was baffled and bored. He did not understand anything of these songs, he had followed the Sahib because the Sahib wore trousers. Trousers had been the dream of his life. The kindly interest which the trousered man had shown him when he was downcast had made Bakha conjure the pictures of

15. 'Dalits as 'the others': Reading Dalit Discourse in Joseph Macwan's Angaliyat', Ravenshaw Journal of Literary and Culture Studies V 2015, pp. 46-72.
16. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।। श्रीमद्भगवत गीता - 4/13
17. विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।। श्रीमद्भगवत गीता - 5/18

himself wearing the Sahib's clothes, talking the Sahib's language and becoming like the guard whom he had seen on the railway station near his village.[18]

No doubt, poverty is a problem in India and a man can accept conversion in order to get some financial benefits. But poverty is a problem in many communities of the world: there are poverty-stricken people in Islamic countries: there are poverty-stricken people in Christian countries, and so on. Nor is poverty confined to the Dalits. Even the caste Hindus are poverty-stricken in large numbers. So our people have to resist allurements and shun the calls for conversion. Article 21 of the Constitution of independent India allows every citizen of this country the right to live which according to the Supreme Court of India means the right to live with dignity. So nobody in this country has the right to force any other person to convert to a faith other than his own. Yet in this country thousands, nay lakhs were forced to leave, their homeland to escape conversion,

But converting people from one religion to another either with the help of money or bullets is going on in many parts of the country, as is evident from the following report about the hill-districts of Assam:

> The Christian population in the Karbi Anglong District has [sic] increased from 7.99% in 1971 to 14.48% in 2001 according to the latest census. In north Cachar Hill District the Christian population was 26.68% of its population in 2001 against 10.31% in 1971 census, which proves that there is a massive conversion drive in those tribal belts of Assam which does not augur well for the national integrity, particularly against the backdrop of experiences in Mizoram, Manipur and Nagaland in the North-East where the missionaries patronized the separatists and secessionists [sic] elements to divide the people on the basis of religion and demand separate statehood.[19]

The same fact is suggested also by the following Table based on the census Report published by the Government of India[20] showing the growth of the Hindus, the Christians, the Muslims, and the other communities in the district of Kaudhamal of Orissa:

18. Mulk Raj Anand, *The Untouchable* (New Delhi: Arnold Heinemann, 1981 [1935]) p.174.

19 Cited in *North Cachar Hills (Assam): Root Cause*, a report of the Justice on Trial group of Ahmedabad (Gujrat), pp. 4-5.

20 Cited in *Kandhamal: Truth Unveiled,* a report prepared by the Fact Finding Committee of Forum for Justice (Hyderabad), p. 24.

Year	Hindus	Christians	Muslims	Others
1961	3,04,459	21,928	382	
1971	3,54,769	37,561	1,427	
1981	4,05,251	42,264	1,315	45
1991	4,68,869	75,579	1,739	02
2001	5,27,757	1,17,954	2,253	58

The extraordinary rise in the population of the Christians and the Muslims signifies that the process of conversion is on the rise.

The use of the sword is the third extrinsic challenge to the Indian culture. It is being done inside India and also overseas. There are hundreds, if not thousands, of pockets in India where they have removed almost all the Hindus and have Islamized them or Christianized them. I have already mentioned the valley of Kashmir which once was the home of about 300,000 Hindus popularly known as Kashmiri Pandits. This valley was Islamized in the 1990's as the Pandits living there were killed in such a large number that the rest of them chose to flee away out of fear.[21] A member of this Pandit Community, whom I know, had to run away even before he could manage to sell his house which was then ransacked and set ablaze. So the sword was used not only by Aurangzeb and his associates in the Mughal period to force the Hindus to adopt Islam, it is being used even now. A few years ago they were charged with doing that in Kairana, a town only about one hundred miles from Delhi in India. About 1400 years ago there lived in the world people professing faith in non-Islamic religions. Just in this period of about 1400 years 56 countries have been made nearly 100% Islamic. In most of these cases it is the sword that spread Islam. And in the valley of Kashmir they used the bullet to make the Hindus flee away. We can take the example of the tribal area of Assam. The 'Justice on Trial' group asserts that in Nagaland the Naga Christans use both bullets and bank-notes to make the Hindus of the Dimasa community embrace Christianity, as they report:

21 R. C. Majumdar at al record that "The census of 1941 recorded that the total population of the state [of Jammu and Kashmir] was 4,021,615 of whom 77.11 percent were Muslims, 20.12 percent Hindus 2.77 percent Sikhs and Buddhists." [R.C. Majumdar et al *An Advanced History of India* (Madras: Macmillan, 1978 [1967]) fourth edition, p. 967]

> The borders of Nagaland and North Cachar Hills adjoin each other and it is very easy for the militants to reach NCH and do their job of creating an atmosphere of fear. The main reason for creating such an atmosphere of fear is an attempt by the Naga Christians to convert the Hindus of Dimasa community and to keep them in fear so that they convert to Christianity. The method of alluring the Dimasas or any other community to convert to Christianity is financial help.[22]

Now we come to the last challenge, namely the manipulation of population. Different communities have different birth-rates both in India and overseas. The number of members a community has is important not only from the political point of view but also from the cultural point of view sometimes a community tries to manipulate its birth rate. I have in mind the following statement of the former President of Pakistan General Pervez Musharraf: "[The] biggest strength of Pakistan is the Indian Muslims, not the nuclear bombs. They are converting India into an Islamic nation by population explosion. India can repeal article 370 from Kashmir, India can build Ram Temple, India can win war against Pakistan, but India cannot prevent itself from becoming an Islamic nation!"[23]

This signifies that conscious efforts are being made to bring about in India a demography in which the followers of Islam outnumber the Hindus so that the country can be made Islamic. That is why proper measures have to be taken to nullify the efforts being made to manipulate changes in the demography of the country.

It is the experience of the Hindus of India that when the Muslims outnumber the other communities living in the region, they try to make themselves an independent country and when they succeed in doing that they declare the country to be Islamic. This happened in Sindh, Punjab, Baluchistan and East Bengal. All these parts of India were populated by both the Hindus and the Muslims but now they have become Pakistan and Bangla Desh and both of them are Islamic countries. R.C. Majumdar et al record in their book 'An Advanced History of India' that the British rulers of India agreed to change the Muslim dominated parts of India into Pakistan. According to them Lord Mountbatten, the then Viceroy of India, also declared on the 3rd June, 1947: "If the area with a majority

22. *North Cachar Hills: Assam*, op.cit. p. 29.

23. A video being circulated in India on social media around the 15th of March 2019.

of Muslim population so desired, they should be allowed to form a separate Dominion..."[24] And there came a time, as we all know, when they became a separate country.

24 .R.C. Majumdar, H.C. Ray Chaudhary, and Kalikinkar Dutta, *An Advanced History of India* (Madras: Macmillan India Ltd., 1978 [1967]), p. 981.

SCIENCE AND RELIGION

Maria Wirth[1]

When I was in high school in Germany, I had a recurring phantasy. I imagined that some fine day the anchor in the news broadcast announces that science has found proof that God exists. This was at a time when doubts started creeping in whether it was true what I had believed so strongly in childhood, and such an announcement, I felt, would settle the issue once for all.

This was in the 1960s, when science made great strides for example in space exploration. Yuri Gagarin, the first astronaut in space, allegedly said after returning to earth that he had not seen any God out there. His statement did not carry too much weight, as he was Russian, and we Germans generally did not trust any Russian during the height of the cold war…

Still, for those of us who knew a little about history and were interested in science, 'religion' – which meant Christianity in Germany – came under scrutiny and did not come out of it unscathed. My elder sister was one of the first in our small town who rejected officially her membership in the Church, undoubtedly influenced by her husband who did so as well. My mother was very concerned – not so much that my sister would now burn in hell for all eternity, but what 'the people will think'. I got the message not to follow suit.

It was a big dilemma. I intuitively believed in God, a supreme, all-mighty Being, that is the cause of our existence and somehow 'knows' what we think, feel and do, but I could not

1. Ms Maria Wirth, a German, is a trained psychologist of Hamburg University. After her encounter with (darshan of) Devaraha Baba almost 38 years ago she abandoned her plan of going to Australia for research. She has continued to live in India ever since though she is not an Indian citizen yet. She has dived deep into India's spiritual tradition, sharing her insights with German readers through articles and books. She started educating Indians and the world about the unique value of Indian tradition through her blog in English language. Her recent book "Thank you India – a German woman's journey to the wisdom of yoga" has been received very well.

reconcile what religion told me about this God. I could not believe that he is so unfair, even cruel, that he would let me burn forever in hell only because I had skipped Sunday mass.

The fear of hell had been real for me as a child. I had skipped Sunday mass once when I was 9 years old and was terrified that I could die before I had confessed my 'sin' to the priest. I was sure that in that case, I would go straight into hellfire. (Skipping Sunday mass was a cardinal sin for Catholics at that time with hell as punishment).

Now, being older, this fear had left me. Eternal hell after a life of a few years simply did not make sense. This claim seemed rather a tool to frighten people into falling in line with the doctrine. Furthermore, why would the creator of all human beings punish the majority of them with hell because they believed in another religion? Why did this God not let everyone be born in a Christian family if he wants everyone to believe in the Bible? Or be born into a Muslim family if he wanted all to follow the Quran?

It did not make sense and I was not interested anymore in religion, even more so when I read in the library of my uncle, who was a priest, about the violent history of the Church and its suppression of scientific knowledge. Can anyone imagine the pain of a scientist who knew for sure that the earth goes around the sun but had to keep quiet because it was politically incorrect to have such a (correct) view? How painful must it have been for Galileo for example to realize that the Church was the sole arbiter of what is true, even if it is clearly not true?

Fortunately, courageous men like Voltaire and others struggled hard and succeeded to restrict the power of religion. Secularism was introduced, blasphemy laws repealed, and now science flourished in Europe. However, there was no connection to religion. Religion did not foster science. Science flourished in spite of religion, not because of it. Or did it?

Here, maybe we should finally define 'religion'.

Strangely, there is no clear-cut definition. The common denominator is usually that religion is about the belief in and worship of the Divine, God or whatever name one wants to give it. Christianity, Islam, Hinduism, Buddhism and Judaism are the major religions. Minor ones are Jainism, Sikhism, Shintoism, Taoism, etc. Yet why are all these different traditions put into one basket and called 'religion'? Is this justified?

'Religion' comes from Latin and means 'to bind'. It was first used for the Catholic Church. Later, when the Turks were at the gates of Vienna, Islam was also called 'religion'.

Why was a new term introduced? Was the term Christianity not clear? It surely was as it referred to the followers of Christ. What else needed to be conveyed? To what had the

follower of Christ to be bound?

Since Christianity and Islam both have fixed doctrines contained in certain books and both claim that only their doctrine is true and whoever does not believe this will burn in hell, it can be safely assumed that the term religion indicated that the followers were bound to the exclusivist doctrine of Christianity or Islam respectively – over many centuries even at the threat of death if they tried to loosen the bond. They had to 'religiously' stick to the tenets given by the clergy, like going to mass on Sunday or praying five times a day at specified times.

In exchange for this loyalty to the doctrine, the believers were left in peace from blasphemy laws and promised heaven after death. Further they were assured that they are on the 'right' path when there are 'wrong' paths as well. In short, God loves them, but not the others.

Where does Hinduism fit in in this scenario? Actually, it doesn't fit in. It does not bind its followers to a fixed doctrine. It not only allows a free enquiry but encourages it. No blind belief in unverifiable dogmas is demanded. Yet in the 19th century, the term religion was now used for the ancient traditions from India, China and Japan, as well. And intriguingly, all those traditions got an 'ism' added: Hindu-ism, Buddh-ism, Tao-ism, Jain-ism…

Usually an -ism is associated with a narrow doctrine, developed by one person like Marxism, Stalinism, Maoism or has otherwise a negative image like Nazism or "Islam-ism", which is meant to be seen as different and worse than Islam. That Juda-ism, which always was at the receiving end of Christianity and Islam, also got an –ism just would confirm that the –ism is not as 'noble' as the ending of the two "only true" religions.

Did the west try to obfuscate the fact that the Eastern traditions, foremost of all the Indian, had profound philosophies at their core and portray them also as 'belief-systems' with unverifiable dogmas at their core? For millennia these eastern traditions have lived harmoniously together without fighting each other but rather debating each other, in stark contrast to Christianity and Islam.

One thing is clear: Christianity/ Islam on one side and India's traditions on the other are two very different categories:

One group makes unverifiable claims about the truth, demands blind belief in those claims and threatens with dire consequences, while the other group freely enquires into the truth by inner exploration, debates, guided by the ancient texts and saints who had experienced being one with all.

For one group the goal of life is to reach heaven and avoid hell after death by religiously sticking to the doctrine which is taught. The other group sees the goal in realising the blissful truth that we are one with all in the depth of our own being while we are alive.

One group depends on conversion and indoctrination to gain followers, while Hinduism is Sanatana (eternal) Dharma (righteous way of living).

Every Christian or Muslim had forefathers who were not Christians or Muslims. At the start, often the sword was used to convert, as the 'truth' of the dogmas was not self-evident and even went against common sense. Later, indoctrination of children and blasphemy laws kept the followers subdued.

The reason why conversion is necessary for the dogmatic religions is simple:

Suppose a community on some island is completely unconnected to the modern world. They will never become Christians or Muslims because they need to be told a story from the past about God sending his only son to earth 2000 years ago, or about Allah sending Mohammed as his last prophet some 1400 years ago.

Yet if these islanders deeply enquired into what is true and how to live a righteous life, they might come to similar conclusions like Sanatana Dharma, as it does not depend on some event in history. It requires deep enquiry into That what truly is – eternally.

Yet let me go back to my personal discovery of a connection between science and 'religion'.

Meanwhile, I had stopped going to mass. When I told it to my mother, her reaction was, "And what if you go to hell?" "I won't go to hell", I replied. If there is a God, he surely won't be so petty-minded to insist on a specific way of worshipping him. I also had had some inkling that indeed, there may be a God. An article on modern physics had explained that all is basically one energy and the different forms in this world are not really solid or separate entities. Strangely, this made sense and I felt: If there is a God then that one energy must be him.

Yet in the 1970s, we students at Hamburg University were so 'modern and progressive' that we would have rather bitten our tongues than admit that we believed in God. Yet it was ok to be interested in Buddhism or Transcendental Meditation (TM) or Bhagawan Rajneesh, as Osho was called then.

I even took initiation into TM. The Beatles had paved the way. I loved those 20 minutes of meditation in the morning and evening. Yet there was a lot of negative reporting in German newspapers about TM at that time. The Church had set up commissioners for sects, and

warned one can go mad by meditating. Parents were asked to keep an eye on their children so that they don't fall prey to the brainwashing of those sects. Maybe, this negative propaganda had its influence because I stopped meditating after two years.

Even more than TM, the Hare Krishna 'sect' was demeaned and ridiculed by the media. Their followers were portrayed as weird, mad chaps. Hinduism already had a bad image. I had learnt in primary school that it was about a terrible caste system and untouchables. Now the media did their best to make it look even worse.

In December 1979 I planned to go to Australia with a stopover in India. This stopover became a turning point in my life. It lasted meanwhile 37 years. The reason why I stayed on in India ironically was because of the much maligned Hinduism. I realised the amazing depth and breadth of Hinduism and wondered, why it was portrayed so wrongly as a primitive, oppressive religion when it is actually the best option for mankind. The Dalai Lama said that India has great potential to help the world. He is right and the negative propaganda in the west is wrong. Hinduism is least dogmatic and closest to the truth. If it binds at all, it binds or rather unites (yog) the individual with the Divine.

Back to my stopover. I visited the southern tip of India, Kanya Kumari. A little off the coast on a huge rock, there is a memorial for Swami Vivekananda. At a bookstall there, I bought 'Jnana Yoga'. I had not heard of Swami Vivekananda, but wanted to learn about Indian thought while in India.

Swami Vivekananda had swum to this rock to meditate in December 1892. His guru, Ramakrishna Paramahamsa, had died in Calcutta six years earlier. The young man had realised that under British rule his countrymen had purposely been cut off from their culture. He wanted to wake them up, give them back their self-respect and pride in their Hindu tradition.

On this rock, he decided to participate at the World Congress of Religions in Chicago in 1893, and present Advaita Vedanta, one of the highest flowerings among the different Indian philosophical systems. Advaita Vedanta is explained in the Upanishads, the last part (=anta) of the Vedas, and postulates that essentially, everything is a Whole (a-dwaita = not two).

Swami Vivekananda became the star of the World Congress. He got a standing ovation, and was asked to give a lecture tour in the US. He was sought after by influential persons, including scientists like Tesla. But the Christians went after him. In his own words at a lecture at the Victoria Hall in Madras after coming back to India:

"There is not one black lie imaginable that the Christian missionaries did not invent against

me. They blackened my character from city to city, poor and friendless though I was in a foreign country. They tried to oust me from every house and to make every man who became my friend my enemy. They tried to starve me out."

Why did the Christians do this? Did they fear that people realise that Advaita Vedanta makes far more sense than their dogmatic belief-system?

I read 'Jnana Yoga', and it was fascinating. Swami Vivekananda expressed clearly what I vaguely had felt to be true. For example that all is interconnected or rather: ONE. Everything in this creation including ourselves is permeated by the same great intelligence, like waves are permeated by the same ocean. The waves may be convinced that they are separate from the ocean as they have a distinct form and name. But ultimately all the waves are nothing but the one great ocean and nothing is lost when their form is lost. Similarly, though we may consider our person as separate from others, in truth we are the one consciousness and nothing of substance is lost when form and name are lost.

Further, Swami Vivekananda claimed that the so called reality is not really real. It is a sense deception, in a similar way, as at dusk a rope is mistakenly seen as a snake, even though in reality there is only a rope. Truly true, he claimed, is our inner being (Atman) that permeates everything and makes all appearances miraculously shine forth. It is infinite, eternal. It is not an object that can be seen with the eyes or thought of with the mind.

"Brahman is not what the eyes can see but That whereby the eyes can see. Brahman is not what the mind can think but That whereby the mind can think…" declares the Kena Upanishad. It is however possible to *be* Brahman. Rather, we *are* it already – "Ayam Atman Brahman" (the individual consciousness is one with the universal consciousness) is one of the Mahavakyas (great uttarances) of Vedanta.

Now this ocean analogy of all being one sounded almost like that article on modern physics which I had read in high school. How come? Did the scientists discover this independently or were their theories inspired by the Vedas? Had the scientists reflected on the profound insights of the Indian rishis?

Indeed this had been the case. The great scientists who were responsible for replacing Newton's paradigm of a universe full of separate 'things' with an interconnected, homogeneous Whole were inspired by Vedanta: Heisenberg, Schroedinger, Pauli, Einstein, Oppenheimer, Tesla and others, all knew about and reflected on India's ancient wisdom.

The Church was surely not amused that the brightest brains in the Occident endorsed

Indian wisdom and she might have schemed to blacken this image by teaching schoolchildren all over the world that 'Hinduism' means a bad caste system and sinful idol worship. I heard already in primary school about 'untouchables' which left a lasting, negative impression about Hinduism. The Brahmins, it was claimed, were the worst. Little did I know then, that the Brahmins had taken great pains to memorize and preserve the Vedas for posterity, and the atrocities of the caste system come nowhere near the atrocities by Christians and Muslims in the name of their god.

In 1982, an international conference on the "convergence of ancient wisdom and modern science" was held in Bombay and I wrote about it for a German magazine. The program for the conference explained that India was purposely chosen as the venue as the scientific theories propounded were based on ancient Indian insights. This was as explicit as it could get: Indian wisdom helped scientists to formulate their theories.

Fritjof Capra, Rupert Sheldrake, Karl Pribram and other scientists explained that new research in physics, biology, neurology and other subjects clearly pointed to a convergence between ancient wisdom and modern science. Scientists, while searching for the substance of things, had stumbled upon a homogeneous ONE energy. Matter and energy are interchangeable and the three dimensional space and the linear time have become the four dimensional space-time–continuum that is beyond human imagination. There are no separate objects or separate existences. Everything is related and is in perpetual movement. Fritjof Capra likened it to Shiva Nataraj – the dancing Shiva.

So it was now scientifically approved that our senses deceive us and that nothing that the senses perceive truly exists –in tune with the ancient Indian concept of Maya. And science is considered as the highest authority regarding the truth. Is this view justified?

Psychology also got a major facelift at the conference thanks to transpersonal psychology. It was a new branch that was based on the Hindu concept of Atman – the transpersonal or transcendental essence in all human beings. The core of Vedanta are the four Mahavakyas of the Upanishads, which proclaim that Atman (the individual consciousness) is one with Brahman (the universal consciousness), like in "Ayam Atman Brahman".

Finally Sanatana Dharma got its due, I felt. The comforting knowledge of unity would surely not stay only in the heads of some scientists but would influence the lives of the common people. After all, according to Hinduism, the goal of life is to realise what we truly are – not a separate person but Satchitananda, – blissful awareness.

My optimism was wrong.

If anything, there were even greater attempts to hide the profound philosophy and the contribution of India to science since the early 1980s and to prevent the common man from appreciating the Hindu way of life.

Let's take transcendental psychology. At the conference in 1982, Swami Muktananda gave a presentation of the non-dual tradition of Kashmir Shaivism. The participants were taken to his ashram in Ganeshpuri. It was not made a secret that he was the guru of Christina and Stanislav Groff, who organised the conference on behalf of the Association of Transpersonal Psychotherapy.

Yet today, in the internet age, Wikipedia says about "transpersonal psychology" at the start:

"Amongst the thinkers who are held to have set the stage for transpersonal studies are William James, Carl Jung, Robert Assagioli and Abraham Maslow. Commentators also mention the psychedelic movement, the psychological study of religion, parapsychology, and the interest in Eastern spiritual systems and practices, as influences that shaped the early field of transpersonal psychology."

Not a word about India. Sanatana Dharma or Hinduism, which deserved to be mentioned before all other contributors, is missing. The long Wikipedia piece ends with a revealing remark:

"According to Cunningham, transpersonal psychology has been criticized by some Christian authors as being "a mishmash of 'New Age' ideas that offer an alternative faith system to vulnerable youths who turn their backs on organized religion (Adeney, 1988)".

Those Christian authors do not offer arguments to rebut the new (ancient) theory of a transpersonal self but call it names: "mishmash of new age ideas". They fear that vulnerable youth turn their back on organised religion.

Why do they threat this scenario? Obviously they do not even try to evaluate whether the 'I'-feeling could indeed be transpersonal and the same in all: whether the new theory could be closer to the truth is not an issue for them. Loyalty to the 'revealed truth' overrides it. The mind is stuck in a straitjacket.

A pious Christian cannot allow himself to think freely. The Christian doctrine is the unquestionable truth for him. Of course this applies not only to authors but also to scientists. There may be self-censorship regarding the theories they propose.

Can a pious Christian archaeologist even consider that human civilisation started millions

of years ago? How would he explain that God sent the Bible so late to humankind? He would be in serious trouble. A genuine dialogue between science and religion within his mind cannot happen. A Hindu in contrast would have no problem; on the contrary, he is encouraged to think in huge timeframes. Even one mahayuga (cycle of the four yugas) lasts 4,32 million years and there are many much greater cycles.

Could Schroedinger, Heisenberg, Einstein and others have pushed the frontiers of science and even done away with the reality of individual persons if they had been pious Christians? Probably not.

Yet strangely, even today western scientists consciously or unconsciously close their eyes to the huge contributions of India to science. For most of them, the world ends in Greece.

In an interview with National Geographic in 2015, the Nobel Prize-winning theoretical physicist Steven Weinberg talked about great scientists. He went back to Archimedes, Aristotle, Ptolemy, Galileo, Newton and Leibniz, but not a word about India, for example that the Rig Veda, the most ancient scripture in the world, in 10.22.14 already stated that the earth goes around the sun, yet Copernicus is credited with this discovery. Or that the Rishis had estimated the age of the universe correctly. Is Weinberg ignorant about those contributions or why would he not mention for example the Baudhyana sutras which contained the Pythagoras Theorem long before Pythagoras was born, or Aryabhatta who was a path-breaking mathematician and Astronomer of the 5th century CE? Why are Indians not credited with the work they did, but their insights were often lifted and appeared under western or Arabic names? The infinity Foundation is documenting the Indian knowledge of science and technology in 20 volumes and substantiated many such cases.

The interviewer of Steven Weinberg also did not ask about India, but he did ask about "the golden age of Islamic science".

Weinberg, a Jew, clarified that the scientists were not doing Islamic science, but science and many leading scientists during this golden age were actually irreligious or hostile to religion. He might have said this from personal experience, too. In our modern times, scientists with Jewish names are clearly overrepresented, yet nobody ever suggested, least of all those scientists, that we live in "the golden age of Jewish science."

Al Jazeera aired a documentary on the great Muslim scientists recently, yet if one looks closer, the source of many of the inventions those scientists are credited with, for example the decimal system or algebra, is India. In India even the steel (Wootz) of the famed Damascus

sword was produced.

Dogmatic religions never fostered science. What sadder example can there be than the burning of the great Nalanda University by Islamic marauders in 1193 AD. The collected treasure of the best minds was turned into ash and thousands of students were killed. Voltaire rightly said, "Those who can make you believe in absurdities can make you commit atrocities."

Yet times are changing. The awareness that we would be better off without dogmatic religions is growing. Christianity is losing its hold over the mind of its followers in the west. And Islam is more and more scrutinised, too, in spite of media trying its best to out 'Islamophobia' as unacceptable.

But let's find out why science flourished in India in ancient times and why Sanatana Dharma did not obstruct it. The reason is simple: Sanatana Dharma or Hinduism is based on science, or rather, it is science. Veda (from Sanskrit) means knowledge and science (from Latin) means also knowledge. Science is defined as knowledge gained from observation and experimentation. The rishis added one more method – knowledge gained from inner exploration. This inner exploration or meditation lifts Hindu Dharma actually above science and the arrogance which scientists often show towards Hindu practices is unwarranted and stems from ignorance.

"Science is also a religion. It also depends on belief", a friend who holds a doctorate in physics said once provocatively. He has a point. The scientists believe in theories that seem to explain what they observe. Yet they don't know for sure whether they are true. For example mainstream scientists still hold that consciousness is a kind of by-product of the brain. They may have to revise this theory ultimately.

Maybe one could say that science is in between Christianity and Islam on one side and Sanatana Dharma on the other. It is not rigid as the dogmatic religions are, because it is open to change if new insights emerge. But it is lacking the most important knowledge – the knowledge of that which alone is true.

Scientists have discovered the oneness of all, but for them the oneness is dead, without life. The rishis have discovered the oneness many thousand years earlier, but for them this oneness is alive and knows itself. So far the rishis have never been proven wrong in areas which were tested, like the age of the universe or even the distance between the sun and the earth.

Would it not make sense for modern scientists to take their claim seriously that the

underlying all-pervading, pure consciousness – satchitananda – is the eternal truth, and names and forms are more like virtual reality. The truth is not something abstract, cold, and theoretical. It is the conscious, loving essence in all.

It follows that everything is sacred, everything is permeated by satchitananda. So is it really so incomprehensible when Hindus worship rivers, trees, the sun or the cow who gives so much to human beings and herself is so peaceful with the most beautiful eyes? Is it not arrogance and hypocrisy on the part of western scientists, when they rush to debunk as superstitious unexplained happenings, which Hindus consider as wondrous, yet keep mum when miracles are ascribed to Christian 'saints' like to Mother Teresa recently?

Are Hindus not far more on target when they see Divinity in all? Is it not true? Is it 'more true' to see the sun only as a ball of helium? Or water only as H_2O? The Aerospace Institute in Stuttgart conducted research which indicated that water has memory. Does it not mean it is alive?

Or take the cow: Now scientists discovered that the indigenous Indian cows give better milk then for example Jersey cows. Traces of gold were confirmed in the milk of Indian cows which is useful in Ayurveda. Swami Ramdev is setting up special cow research institutes, to confirm the long held Indian beliefs about the usefulness of even the cow urine for example. How long will western scientists mock Indians worshipping the cow or using her urine as medicine?

Great scientists like Einstein did not demean spiritual practices but were aware of the huge amount of knowledge that they are NOT aware of. Lesser scientists quickly ridicule what is unfamiliar to them. Or are these scientists caught in their fixed Christian belief system and cannot think beyond it?

According to Indian texts, we live presently in a dark era, the Kali Yuga, where people are materialistic and their mind power is weak. They wrongly think that they are only body and mind. Many thousand years earlier, in the Satya Yuga, Treta Yug and Dwarpara Yug, human beings had a better connection to the spiritual dimension of their own being. For them "Aham Brahmasmi" was more real than it is for us today.

Yet the realisation of true knowledge won't come by thinking. It comes by sinking into the vast intelligence from where thoughts emerge. Intuition springs from there. And somebody who can tap this intelligence naturally can bring superior knowledge into his mind and express it.

When the mind is stilled by dropping thoughts, the divine dimension of one's being shines forth. True inspiration and intuition come from this level, and true happiness as well. It is this, our true nature, which we are all seeking in our pursuit of happiness. We won't find lasting happiness among the names and forms.

And how to drop thoughts? In the Vijnanabhairava, one of the texts of Kashmir Shaivism, 112 methods are described. Maybe they are already patented in the west and come to India in the form of seminars held by foreigners charging hefty fees? The participants from the English speaking Indian elite would not notice, as they still, like under British rule, don't learn anything about their tradition, not even about their ancient history.

The Chandogya Upanishad describes how the sage Uddalaka prodded his son Svetaketu to know "That by knowing which everything is known" and how he helped him along with valuable questions and metaphors. Today, scientists like Hawking, also search for 'That by knowing which everything is known' but they still have a blind spot. They don't search where it is to be found: Within their own consciousness.

And no, I don't dream anymore that the anchor in a news broadcast announces that scientists discovered proof that God exists. I realised that scientific proofs are valid only within assumptions that have been proven already not to be absolutely true. The apple falls down, ok, but ultimately there is no apple…

"I am" alone is self-evident. It is the truth that needs not to be proven. This truth is our greatest treasure. It is supreme, blissful Intelligence. It is within all of us. In English one could call it 'God'.

Who is Afraid of Deen Dayal Upadhyaya? Some Reflections on Deen Dayal Upadhyaya's Vision of Chiti (the Soul of the Nation) and Dharma-Centric Bharatiya Samskriti (Indian Culture) in Contemporary Contexts

-Sudhir Kumar*

I. Prastavana/Preface: The Context and the Contest: Who is afraid of Deen Dayal Upadhyaya?

Let us, first, confront the question head on - "Why should one, or anyone, be afraid of Deen Dayal Upadhyayaji's vision of Bharat[1]?" Another version of this question may be

* Professor of English, DES-Multidisciplinary Research Centre, Panjab University, Chandigarh-160014:ksudhir62@gmail.com; Mobile: 08054368260; Address:- F-27, Sector 25, Chandigarh-160014 (India)

1. The following terms have self-consciously been used in the essay in order to highlight their grounding in the "dharma-centric" vision (the vision of integral or holistic spirituality) Bharat/India:-
   a. "Dharma" has not been used in this essay in its much-mistranslated, popular sense of "religion" which, it its invented or revealed forms, binds a community through a fixed set of rules- belief in one God, who is the only true God, in one Holy Book as the only true book, in one Messenger or Prophet or Saviour, and the practice of certain rituals and conversion etc. In its highly restrictive and Semitic sense, it is this version of "religion" that gives rise to the notion of a theocratic nation/nation-state.). To the contrary, "dharma" has been used in this essay as a multivalent term signifying "that which is established or firm or steadfast", "duty,", "right", "justice", "morality"," righteousness", "character/nature", essential nature/quality", "sacrifice", "essence", "good works", "law" etc that may easily be said to connote and cover the whole way of life.(See *A Sanskrit-English Dictionary,* Ed. M. Monier-Williams, New Delhi, Parimal, 2011, pp 751-4).
   b. "Bharat"(for India), "Bharatiya"(for Indian) and "Bharatiyata" (for Indianness).
   c. "Hindu view of life" (for Hinduism) and "Hindutva" (in its an abstract noun form of "Hindu"-vision implying the essence of the Hindu view of life or Hinduness in place of the perverted meaning of Hindutva that is often used by the secular left liberal writers and critics to tarnish and misrepresent the emancipatory and enabling Hindu-worldview as "Brahmanical" (?),"Fascist", militant, communalist, politico-cultural ideology.
   d. "Samskriti" (in the sense of constant self-refinement or self-purification or self-improvement that requires the harmonious development of body, mind and spirit in place of Euro-Americo-centric materialistic notion of "culture").

reformulated as - "Who is afraid of the unifying vision of a "dharma-centric" Bharat/India that is manifest in its diverse forms as Vedantic-Bhakti-spiritual worldview (often known as Hindu way of life), Buddhism, Jainism, Sikhism and Sufi-devotion?" An unfailing answer to this question is that no Bharatiya/Indian, or for that matter, anyone, irrespective of her/his being a theist/atheist/agnostic, who believes in the inviolable significance of "dharma" as "sadachara or ethical conduct" as well as integral or holistic unity of cosmos and recognizes the differences as seemingly different forms of oneness or truth, can be afraid of Deen Dayal Upadhyayaji or his dharmik/dharma-centric worldview represented in his vision of "Ekatma-Manavavad or Integral Humanism" and other writings. He is of firm opinion that - " By rejecting spirituality, one can never establish harmony between humans, their actions and the outside world"[2]. It is the centrality of holistic and ekaatmak (integral) spiritual/dharmik/adhyaatmik worldview that takes cognizance of, and negotiates, the worldly differences in order to understand that underlying unity which binds the differences into oneness. This integral unity or oneness of all forms the "chiti" or the soul of Bharat as a nation. Influenced by Adi Shankara (8th century CE), Deen Dayalji always stressed, in his writings and speeches, "that true knowledge is the realization of oneness of all or non-dualism; whereas ignorance is the experience of differences. We have to make all possible efforts to make our own people realize the oneness or integrality of all forms of planetary existence" (*DDUSV* Vol 1, taken from his 'Diary' entry Dated 17 January 1956, printed on the back cover). Furthermore, in 1947, he wrote his novel, *Jagadguru Shankaracharya,* reinforcing the message that Adi Shankara made a great contribution to integrate the nation- socially, culturally and spiritually. He even refers to Adi Shankara's *Manisha Panchakam*[3](a dialogue that took place in Varanasi on the banks of the Ganges between Adi Shankara and a Chandala- an outcaste. Deen Dayalji underlined

2. Deen Dayal Upadhyaya, *Deen Dayal Upadhyaya: Sampurna Vangmaya* Vol. 12. (Ed. Dr Mahesh Chandra Sharma), New Delhi, Prabhat Prakashan,2016, p. 57. Further cited as *DDUSV* with Volume and page numbers in parentheses. (Translation into English mine).

3. See Swami Ranganathananda, *Shankaracharya and an Untouchable: An Exposition of Manisha Panchakam*, Kolkata, Advaita Ashrama,2009. The Chandala asks " Is there any difference between the reflectionnof the sunin waters of the Ganga and that in the water flowing by the chandala's hut; or between the space within a golden jar and that within a clay pot? Wherefrom has arisen this great delusion, which sees one as a brahmana and another as a chandala, in this inner Self- this one waveless ocean of self-existing bliss and consciousness?" (p. 10-11). The *Vedas* and the *Upanishads* do not prescribe the existing heredity- hierarchy-based caste or varna system. The Caste-system , as it exists today, is a much later perversion of the ideal of qualities-action- nature -based four-fold Varna -system (guna-karma-swabhaava-based division of labour) which was neither hereditary nor hierarchical. See S Radhakrishnan (Ed.) *The Bhagavadgita,* Element, NOIDA, 2014 : Chapter 4.13 p. 186-7).

how Adi Shankara's doctrine of non-dualism or advaita, in its practical aspect, displayed how important it is to annihilate the caste-system, through and in one's thinking and social action both, as it is the biggest obstacle in the project of social unity so vital for national integration (*DDUSV* Vol 1, 160-165). It was Adi Shankara, according to Deen Dayalj, who made the people of Bharat aware of the soul of the national life or chiti that unites the material and the spiritual. He reminds us of the significance of Adi Shankara's spiritual-cultural-social project, both in its discursive as well as performative forms, that is vital to the cause of the national integration or unity of the nation:

> In the national life of India, after Lord Krishna, Acharya Shankara came into existence to give a practical shape to the idea of fundamental unity of the nation. "One in many"- through this principle enunciated by him, he, Acharya Shankara, brought about the essential unity of spiritual, material, religious, social and political aspects of our practical life. . . . What can be better tribute offered by us to this great prodigy of our nation than take a vow to follow and practice his principle of non-dualism in real life in order to make Bharatavarsha an evolved, effulgent nation. (*DDUSV,* Vol.1, 207)

Moreover, Deen Dayalji holds, in consonance with the spirit or essence of our national culture or chiti, that a human being is not an individual body but an integral form of body, mind, intelligence, and soul/spirit. This integrality or oneness of all the constituents that is easily visible in the composition of an individual also manifests itself as unity of all in society transcending the apparent differences barriers of caste, colour, religion, race, class, gender, language etc. All constituents of the nation, that is, the land, the people, and culture are suffused with and vitalized by this vital life-breath called "Virat" or "Chiti". The primary objective of all kinds of national ideas and institutions- social, political, cultural, educational and ecological is to continue to strengthen this essence or soul (chiti or virat) of the nation. Similarly, the primary national duty or rashtra-dharma of all the citizens of Bharat is to act in accordance with this vital force called chiti in order to protect and strengthen it- failing which our national life will get weakened and suffer moral decline *(DDUSV*, Vol 12, p.159). Needless to say,

even Sri Aurobindo, in his seminal text- *The Foundations of Indian Culture* (1918-21)[4] underlines that the Bharatiya samskriti/Indian culture, notwithstanding its amazing diversity, emphasizes "the natural harmony of spirit, mind and body" and its "central conception is that of the Eternal, the Spirit here encased in matter" that also "enters the world of ideas and conscious morality, dharma" (*TFOIC* 2). In other words, the very consciousness of all pervasive "unity" of "being"- of the living and the non-living is a characteristic feature of the soul of the nation or chiti.

At the same time, it can hardly be denied that in the present contexts of political correctness and shameless opportunism camouflaged as intellectual sophistry and ideological bigotry as exemplified through the writings of the scholars belonging to, what may easily be called, the secular left liberal combine, the dharma-centric meanings of Bharat have been flagrantly condemned as a part of Hindu fundamentalism which is so erroneously misconstrued as "Hindutva". Hindutva or Hinduness is primarily a geo-cultural concept that is not grounded in a religion or a dogmatic religious ideology called Hinduism as it is invented and so well explained by V. D. Savarkar in 1923 in the eponymous essay. The words such as "Hindutva", "Hinduism" and "Dharma" and those who hold that these concepts imply primarily - a cultural, ethical and spiritual way of life are often condemned and used with all kinds of derogatory meanings in the writings of the modern Indian scholars belonging to the secular-left-liberal combine. Suffice to say that these academics and peddlers of Marxism and secularism tend to ignore even the verdict of the Supreme Court of India, delivered on 11 December 1995, that clearly held and reinforced that Hindutva is a "way of life" (and, hence, is primarily a cultural concept) and has nothing to do with narrow fundamentalist Hindu religious bigotry.[5] In this context, it is worthwhile to highlight the significance of Shri Mohan Bhagawat's (Sarsanghchalak of Rashtriya Swayamsevak Sangh or RSS-the Organisation which has been roundly and routinely condemned as a hotbed of "Fascist" Hindu fundamentalism or fanaticism in the discourses of the Secular Left Liberal combine) recent speeches delivered in September

4. Sri Aurobindo, *The Foundations of Indian Culture*, Pondicherry, Sri Aurobindo Ashram, 1992. (First published serially in *Arya* -1918-21). Further cited as *TFOIC* with page numbers in parentheses. One can also see how this integral consciousness or oneness of all, which is an essential feature of the " chiti " or the soul of the nation gets reflected in Guru Gobind Singhji's famous poem – " Akal Ustat" (See *The Dasam Grantha* (Translated into English by S.S.Kohli), New Delhi. Munshiram Manoharlal Publishers, Pvt Ltd.2016, pp. 38-63.

5. See www.sci.gov.in for the full text of the December 11, 1995 verdict.

2018 in New Delhi. In his speeches that echo, recontextualize, and reconstruct the vision of Veer Savarkar and Deen Dayal Upadhyayaj, Mohan Bhagawatji reiterated the all-inclusive, integral vision of "Hindutva or Hinduness or Hindu View of Life" which, celebrates differences-religious, linguistic or regional as well as reinforces an all-inclusive cultural unity (saamskritik samanvaya) that harmonizes the differences or diversities. He categorically and emphatically stated, foregrounding the "dharma-centric" vision of Hindu view of life:-

"Unity is central to our living tradition (parampara) and it teaches us how to live in harmony with each other… In the celebratory and characteristic Indian discourse of acceptance of, and reverence for diversity, it is the vision of "Unity" that is of paramount importance. It is, therefore, essential for us that we respect and accept our differences. The RSS firmly believes in its primary duty to integrate the entire society. And that is why, there is no other for RSS, not even those who oppose it today…We are the people who firmly believe in uniting all the people of India into an integral whole; we are not the ones who aspire to be free from India and Indian culture. Our effort is to integrate all, and that is why we invite all to participate in our activities….RSS envisions a society in which all are equal and there is no discrimination against anyone on the basis of caste, creed and religion".[6]

Moreover, Mohan Bhagawatji reiterated the inclusivist nature of "Hindutva" by invoking Sir Syed Ahmad Khan's idea of being a "Hindu" in terms of his belonging to the unity (and not uniformity) of national culture:- " If Muslims are unwanted (in India), then there is no Hindutva. The day it is said that Muslims are unwanted here, the concept of Hindutva will cease to exist."(*TIE* Sept 19,2018, pp1-2). He quoted Sir Syed Ahmad Khan's famous statement made during his speech delivered in an Arya Samaj function where he was being felicitated to have become the first "Muslim Barrister" - " ***Mujhe bada dukh hua ki aapne humko apne me nahin shumar kiya…kya hum Bharat Mata ke putra nahin hain?...arre itihaas mein badal gayi hamari puja ki padyati. Aur kya badla hai*****?** (I am very upset that you did not consider me one of your own? Am I not a son of Mother India? Nothing has changed except our ways of worship... ***Hum kehte hain ki hamara Hindu Rashtra hai. Hindu Rashtra hai iska matlab isme Mussalman nahi chahiye aisa bilkul nahin hai…jis din yeh kaha jayega ki yahan Mussalman nahin chahiye…uss din voh Hindutva nahi rahega. Woh to Vishwa-kutumb ki baat karta hai .***(We say ours is a Hindu Rashtra. Hindu Rashtra does not mean it has no place for

6. The excerpts taken from Shri Mohan Bhagawat's speeches were quoted in the newspapers- *Janasatta*, 18 September 2018, p.1.(Translation mine) and *The Indian Express*, 18 September 2018 (pp.1-2) and *The Indian Express,* 19 September 2018, (pp 1-2). Further cited as *TIE* with page numbers in parentheses.

Muslims. The day it is said that Muslims are unwanted here, the concept of Hindutva will cease to exist. Hindutva believes that that the world is a family". (*TIE*, September 19,2018, p.1-2). Mohan Bhagawatji further clarified that he will " respect the sentiments of those who wish to be called "Bharatiya" and not Hindu" (*TIE*, September 19.2018,p.1). The overwhelming question now is –" Who will, then, keeping in mind the unifying or inclusivist vision of Deen Dayalji and Mohan Bhagawatji, continue to be afraid of and pour vilest possible scorn on Hindutva or Hinduness or Hindu Way of Life?"

II. How and Why the Secular-left-liberal Intellectuals Hate Hindu/Hinduism/ Hindutva: The Importance of Being Deen Dayal Upadhyaya

One may find the very seeds of this insidious secular-left-liberal hatred of "Hindu, Hinduism and Hindutva", in the writings of Karl Marx who, displaying his rather shocking ignorance as well as visceral hatred of Bharat or its samskriti/culture, shamelessly characterized entire Bharat or Hindustan as a " world of voluptuousness and of…woes" and its religion as a "religion of sensualist exuberance,…of self-torturing asceticism, a religion of the Lingam, and of the Juggernaut; the religion of the Monk, and of the Bayadere (a dancing Hindu girl)".[7] He goes on to label Indian communities or people as " semi-barbarian" people who, afflicted with "barbarian egotism" are condemned to lead an " undignified, stagnatory and vegetative life" manifest in their " brutalizing worship of nature, exhibiting its degradation in the fact that man, the sovereign of nature, fell down on his knees in adoration of Hanuman, the monkey, and Sabbala, the cow" (*TFWOII* 17-18). Moreover, Marx legitimized his hatred and condemnation of Bharat and Bharatiya samskriti and society, as well as justified the destruction of Bharatiya samstriti through the imposition of colonial rule because of it historylessness: "Indian society has no history at all, at least no known history. What we call its history, is but the history of the successive intruders who founded their empires on the passive basis of that unresisting and unchanging society…England has to fulfil a double mission in India: one destructive, the other regenerating - the annihilation of old Asiatic society, and the laying of the material Western society in India (*TFWOII,* p.29).

7. Marx-Engels, "The British Rule in India" (Dated June 10,1853), *The First War of Indian Independence*: *1857-1859*, Moscow, Progress Publishers, 1978, p.13. Hereafter cited as *TFWOII* with page numbers in parentheses.

Hence, it is but natural for the Marxist scholars or the members of the secular-left-liberal combine (a few names are mentioned here in a suggestive manner only in order to expose how the Indic/Bharatiya samskriti/ Hindu view of life are vilified in the works of some of the Indian intellectuals) like G. C. Spivak[8], Wendy Doniger[9], Shashi Tharoor[10], Kancha Ilaiah[11], Vasudha Dalmia[12],Akshaya Mukul[13] Arundhati Roy[14], Ananya Vajpeyi[15] and others to disseminate through their writings and critical positions, all kinds of perversion of "dharma-centric" vision of Bharatiya samskriti and the integral/holistic Hindu view of life. It is a foregone conclusion that all those, who rather self-righteously imagine and firmly believe that "India, that is, Bharat"[16] (and not "Bharat, that is, India"!), is, in fact, a pronouncedly "socialist secular" democratic republic, may be or should be, quite afraid of the vision of "Dharma-centric" Bharat (,that is, India) as upheld by Deen Dayal Upadhyaya (1916-1968), the great patriot and thinker of Bharat/India. This essay makes an attempt to critically examine the significance of Deen Dayal Upadhyaya's views on the centrality of "dharma" (righteousness) that constitutes the "chiti" or the essence or soul of the rashtra/nation called Bharat, that is, India. It will also be analyzed how he contests the dominant notions envisioning India/Bharat as a "secular, socialist" state in the context of his vision of Bharat as a "dharma-centric/ dharma-kendric" rashtra/nation. He aptly alerted the people of India about the dangers of deliberately ignoring the indigenous "sources of national inspiration" and performing the mimicry of the foreign ideas:

8. G.C. Spivak, "Can the Subaltern Speak?" in C. Nelson and L. Grossberg (eds.), *Marxism and the Interpretation of Culture,* Basingstoke, Macmillan Education, 1988 pp.271-313. Spivak's essay, that remains one of the most cited texts of postcolonial Marxist feminism, is a fine example of deliberate distortion of Bharatiya Samskriti or the Hindu view of life - thanks to the metropolitan grids of manufacturing and circulating Euro-Americo-centric discourses and getting them accepted by the communities of scholars, critics and students situated in the underprivileged nations. Spivak in this essay lambasts the Bharatiya samskriti and its scriptures (particularly the Vedas) that, according to her, stifle the voices of women as the subaltern, and legitimize the Indian custom of Sati (the widow-immolation) even without citing any Vedic verse/mantra/sukta to substantiate her allegations. I exposed, in my research paper cited below, how hollow and unethical are Spivak's unreferenced, unsubstantiated remarks on the Vedas as the *Rigveda* refers to the duties of a young widow in the most enabling and emancipatory manner- asking the young widow to be courageous to come back to the normal life to perform her familial and social obligations (See *Rigveda* Chapter 10.18.7 & 8, pp.29 , Ed. Pandit Shri Ram Sharma, Mathura, Yug Nirman Yojana Trust, 2010. Also see- Sudhir Kumar- " The Postcolonial Paradox: A Gandhian Critique of Contemporary Indian Literature in English", *Dialogue* Vol.13. No.4. April-June 2013. pp. 127-36.

9. See how Wendy Doniger in her latest book – *Beyond Dharma, Dissent in the Ancient Indian Sciences of Sex and Politics*, New Delhi, Speaking Tiger, 2018 (which was first published in U.S.A as *Against Dharma: Dissent in the Ancient Indian Sciences of Sex and Politics* , Yale University Press 2018. Suffice to say that the aim of cultural politics involved in the naming the original title for U.S.A readers and its changed name for Indian readers is quite obvious.). Doniger, setting aside even the minimum requirement of true scholarship and objectivity, undermines the Hindu and Bharatiya Samskriti by arguing that Bharatiya samskriti, with special reference to *Arthashastra, Manusmriti, Kamasutra, the Ramayana and the Mahabharata*, has always been "adharma-centric", what to say of being "dharma-centric".

10. Shashi Tharoor, in his recent book, *Why I am a Hindu*, (New Delhi, Aleph, 2018, hereafter cited as *WIAAH*), also tars the discourses of dharma-centric Indian nationalism as a form of aggressive Hinduism that degenerates into Hindu fundamentalism that is but another name of Hindutva. In order to slander the "dharma-centric" Bharatiya samskriti, he asserts that " Yes, dharma is essential in the pursuits of material well-being, public order and good governance; but this should not mean turning public policy over to sants and sadhus, nor excluding any section of Indian society (for instance, minorities who reject the Hindu idea of dharma as irrelevant to their lives".(*WIAAH*, 142). Tharoor's interpretation of such great nationalists and thinkers as Veer Savarkar and M.S Golwalkar as exemplars of "Fascist" kind of Hindutva turns out to be a critical disaster as he frequently distorts their views and quotes selectively to conceal the basic fact that both of them use the term "Hindu" in an all-inclusive geo-cultural (and not in a religious) and patriotic sense that makes such "dharma-centric" constructions as Hindu nation, and Hinduism and Hindutva (as the essence of being a Hindu) free from any taint of religious communalism and Hindu fundamentalism. Moreover, both of them always affirmed that a nation is a cultural construct whereas a nation- state is a political/governmental construct. In their writings both explicitly stated that a Hindu nation would never be a Hindu (theocratic) state- as it happens in the case of nations where majority population follows Semitic religions. For example, Savarkar, in his *Hindutva* (1923), the text that has been subjected to gross misinterpretation, reductio ad absurdum as well as reductio ad Hitlerum, by the members of the secular-left- liberal combine, boldly declares that "it is enough to point out Hindutva is not identical with what is vaguely indicated by the term Hinduism. By an ' ism' it is generally meant a theory or a code more or less based on spiritual or religious dogma or system." (See *Hindutva*, New Delhi, Hindi Sahitya Sadan, 2017, p.19 , further cited as *H*). Both Savarkar and Golwalkar consider three basic constituents/or required qualifications of a "Hindu" or "Hinduness or Hindutva"- (a) the common fatherland which should be considered the holy or sacred land, (b) the common jati or blood (used the term race to refer to commonness of blood or brotherhood but not in the racist sense) (c) common samskriti or culture. Nowhere does the Hindu religious identity figure in the construction of either "Hindu", "Hindu Rashtra" or "Hindutva"! So much so that he categorically stated that " a patriotic Bohra or a Christian or a Khoja, who would satisfy the required qualifications of Hindutva to such a degree as that, why should he not be recognized as a Hindu?"(*H* 102). Both of them never stated that the Muslims or minorities will be deprived of their citizenship and will be converted to Hindu "religion"! Similarly, Golwalkar in "Preface" to his *We or Our Nationhood Defined* (Nagpur, Bharat Publications,1939, further cited as *We*), now widely believed to be written by Golwalkarji as an

abridged version of G .D. Savarkar's *Rashtra - Mimamsa* (in Marathi), clearly points out that " in applying the Nation Concept to various communities to the Hindu Nation- but not from political point of view- not from the standpoint of State, though to some readers it may appear to be so, but solely from the point of view of the unit called the "Nation". Hence all passing remarks to the relations between the "Nation" and the "Minority Communities" as appearing in this work are to be understood in this light…" (*We*, 2). Furthermore in his famous collection of essays and speeches- *Bunch of Thoughts* (Bangalore, Sahitya Sindhu Prakashan, 1996, First published in 1966, Further cited as *BOT*), Golwalkarji makes a statement regarding the condition of minorities in the Hindu Rashtra that will expose the nefarious anti-Hindu, anti-national designs of the members of the secular left liberal combine: " The answer to the so-called problem of 'religious minorities' can be found only in the historically correct, rational and positive approach to Hindu Rashtra. Otherwise the so-called minorities are to bound to become more and more hardened in their separate shells of religion and turn into a dreadful source of disruption of our body-politic. So, all that is expected of our Muslim and Christian co-citizens is the shedding of the notion of their being ' religious minorities' as also their foreign mental complexion and merging themselves in the common national stream of this soil. As far as the national tradition of this land is concerned, it never considers that with a change in the method of worship, an individual ceases to be the son of the soil and should be treated as an alien. Here, in this land, there can be no objection to God being called by any name whatever. Ingrained in this soil is love and respect for all faiths and religious beliefs. He cannot be a son of this soil at all who is intolerant of other faiths. . . . This is the real and abiding cornerstone of national harmony and integration, subscribing to common national ideals irrespective of personal religious creeds. And it is this concept as applied to our country that we call Rashtra, the only rational, practical and right concept." (*We* 158-59). How can the all-inclusive, dharma-centric visions of Bharatiya Samskriti or Hindu view of life or Hindu Rashtra as espoused by Savarkar and Golwalkar, both in theory and practice, be construed as expresions of "Fascism" or "Nazism" or Hindu religious fundamentalism?/ Are the so-called secularists, liberals, leftists or urban naxals ready to read the primary texts of Hindu or Bharatiya Samskriti withoutwearing their ideological blinkers ??

11. See how Kancha Ilaiah in his rabidly polemical, anti-Hindu, anti- Indic culture texts such as *Why I Am Not a Hindu: A Shudra Critique of Hindutva Philosophy*, *Culture and Political Economy* (Calcutta, Samya, 2009; hereafter cited as *Why*) and *Post- Hindu India: A Discourse on Dalit Bahujan, Socio-Spiritual And Scientific Revolutions* (New Delhi, Sage, 2009; hereafter cited as *PHI)* only manage to showcase how someone's critical imbecility allows her/him to abuse Hindu traditions and Indic culture using all kinds of utterly illogical and unethical argumentative methods. In both the books, he excludes women and scheduled tribes of India from the fold of either "Dalits" or "Dalit-Bahujans" and does not discuss the glaring inner contradictions existing within the fold of the so-called "dalit" fraternity. He rants in a sort of comical critical wilderness of his own against the "diabolical seal of Brahminism and Hinduism" in order to "Dalitize" and "de-Hinduize" society thoughly (*Why* 130). His diatribe against Hindus (whom he considers as" spiritual Fascists") knows no bound of decency or decorum as he proclaims that Hinduism has got to be destroyed and the Hindus be offered a choice to adopt one of the spiritual democracies- either Islam or Christianity (See *PHI*, "Introduction" ix-xxvi, 232, 268, 288—95).

12. See "Chronology" and "Introduction" to *The Cambridge Companion to Modern Indian Culture* (Edited by Vasudha Dalmia and Rashmi Sadana); New Delhi, Cambridge University Press, 2012. The book opens with a sweeping denunciation of ABVP (Akhil Bharatiya Vidyarthi Parishad) activists protesting against A. K. Ramanujan's essay- 'Three Hundred *Ramayanas*' Both the editors, ab initio, underline their claim that the innately oppressive "Brahmanical" India/Indian tradition "dates from the Vedic period". To them, the Hindu view of life, which is singularly reverential to others and is grounded in "oneness of all", is only "Brahmanical" - connoting a highly oppressive system. The "modern" Indian culture, which, according to them, is a euphemism for Hindu culture, tends to focus exclusively "Hindu texts and mythologies dating from the Vedic period" suppressing the " influences of Buddhism, Jainism, bhakti devotional traditions. . . . . Islam and Sufi traditions" (pp. xi, 1-9). The bias against holistic and integral aspect of Bharatiya samskriti is obvious in the Introduction as well as the essays included in the book.

13. See Akshaya Mukul, *Gita Press and the Making of Hindu India* (NOIDA, HarperCollins, 2015). The book is yet another classic example of spreading lies about and hatred for what he constructs as "Hinduism" and "Hindu India" in his narrative. in the name of scholarship, it represents the famous Gita Press Gorakhpur as a Hindutva-Workshop which has been instrumental in the making of a "Hindu/ Hinduised India"!! Like millions of Bharatiyas/Indians, I, too, have scores of cultural/scriptural texts and "Visheshankas (Special Editions)" on different aspects of Bharatiya Samskriti- Yoga, Samskriti, Women, Shakti, Katha, Bhakti, Upanishadas, Vedas/Vedanta, the *Ramayana*, the *Mahabharata* and a host of critical commentaries on Dharma published by Gita Press Gorakhpur, and I could not find even the faintest trace of communalism or jingoism or Hindu fundamentalism in them. Let Satya or Truth prevail! To cite only one example, in an anthology of the songs of the practitioners of Bhakti/devAotion published by Gita Press Gorakhpur- *Bhajan-Samgraha* (An Anthology of Devotional Hymns, Gorakhpur, Gita Press, 2006) containing the songs written by the devotees or bhaktas belonging to the medieval period. Out of the sixty-six bhaktas (64 devotees), thirty four (43 bhaktas) are Muslims, outnumbering their "Hindu" counterparts! If this is a sign of "making a Hindu India" as Akshaya Mukul proposes, Gita Press Gorakhpur should be appreciated rather than condemned by him for this project! Moreover, there was yet another important title related to Shri Hanuman Prasad Poddar and the Gita Press was published. The name of this book was *Patron Mein Samay Samskriti* (Ed by Achyutanand Mishra, New Delhi, Prabhat Prakashan, 2015) which, with tell-tale evidences, showed the great contributions to holistic and dharma-centric Bharatiya Samskriti made by Shri Poddarji and Gita Press. According to Gresham's Law, the bad currency drives out the good one and so it happened to the book edited by Shri Achyutanandaji as it went almost unnoticed by the mainstream English press and media only because it was a Hindi book about the Hindu view of life, and was rooted in truth! One may also cite the case of Christophe Jeffrelot a well-known social-scientist who has consistently and unabashedly been anti-Hindu, anti-India in his writings. See his *Hindu Nationalism: A Reader* (Ed. Christophe Jeffrelot), New Delhi, Permanent Black, 2015.

14. Suzanna (this part of her name is often concealed by her!!) Arundhati Roy's highly provocative anti-Hindu, anti-India views are routinely represented in her books such as *The End of Imagination*

(Kottayam,D.C.Books,1998), *The Greater Common Good* (Bombay, India Book Distributor 1999), *The Algebra of Infinite Justice,* Flamingo, 2002), *The Shape of the Beast: Conversations with Arundhati Roy* (New Delhi, Penguin, 2008), *Kashmir: The Case For Freedom* (London, Verso, 2011), *The Doctor and the Saint: Caste, Race and Annihilation of Caste: The Debate Between B.R. Ambedkar and M.K.Gandhi* (Chicago, Haymarket Books, 2017). Her tirade against the unity and integrity of Bharat as a nation and her unnaturally high-octane diatribes against Hindus and Bharatiya samskriti are legendary-a stuff the nonsensical rhymes are made of!!

15. See how Ananya Vajpeyi, in her ' Introduction' to *Seminar* (671 July 2015, pp 14-18) singularly blames the Hindus (who, in her secular-left-liberal terminology, incarnate as ' Hindu Right' to fit into her scheme of things) whose political ascendency (1998-2004, and 2014 onwards), "seems to be in the process of finally burying the corpse of our collective history, and of all that we knew about the way we used to be . . . .for about three millennia before colonialism. The door is being shut on the past." Her litany of baseless accusations against Hindus and Hinduism (always condemned as Hindutva-vadi-Hindu Right) also prominently figures in her book- *Righteous Republic: The Political Foundations of Modern India* (Cambridge, Harvard University Press, 2012, hereafter cited as *RR)*. She squarely holds the rise of the" Hindu Right" or "the Hindutva takeover of Indian politics" in the 1990s responsible for developing authoritarian and exclusivist tendencies (*RR* 14). And she, driven by her inordinate hatred of Hindus/Hinduism, makes the Hindus villain by branding them as perpetrators of Hindutva, an ideology of majoritarian religious nationalism that distorts and instrumentalizes history in order to persecute minorities" (*RR,* p. 245).

16. *The Constitution of India (As on 25 March 2014)*, New Delhi, Govt of India, Ministry of Law and Justice, 2014, "Part I", p.2. Hereafter cited as *TCI* with page numbers in parentheses.

> Every nation must remember that the source of national inspiration must necessarily be located within its national territorial/cultural space. At the same time, it cannot be forgotten that if it remains located outside the national boundaries, the consequences and conditions may be fatal to national life. (Upadhyaya Vol. 1,178[17]. *Translation mine*)

Deen Dayal Upadhyaya's significant insights on the inseparable link between the core values of a nation's existence and its freedom resemble what the eminent Brazilian educationist Paulo Freire said in his famous book *Pedagogy of the Oppressed* (1970) regarding the dehumanizing impact of the oppressive education system imposed on the oppressed by the colonial power:

> The oppressed, having internalized the image of the oppressor and adopted his guidelines, are fearful of freedom. Freedom would require them to eject this image and replace it with autonomy and responsibility….Although the situation of oppression is a dehumanized and dehumanizing totality affecting both the oppressors and those whom they oppress, it is the latter, who must, from their stifled humanity, wage for both the struggle for a fuller humanity, the oppressor, who is himself dehumanized because he dehumanizes others, is unable to lead the struggle. (Freire 29)[18]

It will not be out of context here to briefly mention how the "dharma-centric" vision of such contemporary thinkers as Kapil Kapoor and Rajiv Malhotra offers a very cogent case for the decolonization of contemporary higher education and cultural institutions of India through the radical transformation of pedagogy and research. For example, in his seminal essay – "Sanskrit Literary Theory: A Rejoinder to Eleven Objections"[19], Professor Kapil Kapoor aptly comments on the impact of cultural neocolonialism prevailing in the structures of higher education/cultural studies in contemporary India:-

17. Prabhat Prakashan: New Delhi, 2016 (All the quotations from Deen Dayalji's works in this essay have been translated by me).
18. Penguin Books: London, 1993.
19. Kapil Kapoor, " Sanskrit Literary Theory: A Rejoinder to Eleven Objections" in *National Seminar on Philosophy of Indian Poetics & Value-Oriented Education,* NOIDA, International Forum For India's Heritage, 2003. pp. 37-72. Further cited as *SLT* with page numbers in parentheses.

"However, the "educated" Indian has been de-intellectualized. His (/Her) vocabulary has been de-intellectualized. His/Her vocabulary has been forced into hibernation by the vocabulary of the West. For him/her, the West is the theory and India is the *data.* The Indian academy has willingly entered into a receiver-donor relationship with the Western academy, a relationship of intellectual subordination. This "de-intellectualization" needs to be countered and corrected by relocating the Indian mind in the Indian thought… India has powerful, attested, traditions of texts and thinkers in disciplines ranging from prosody to philosophy and these are enshrined mainly in Sanskrit. By abandoning this donor Sanskrit tradition, we have become passive, uncritical recipients of Western theories and models." (pp. 37-38). Professor Kapoor further says that it is time we remedied this malaise afflicting the Indian academy as "there is an increasing assertion in the country of the need to remedy this state, to reverse this data-theory relationship between Indian academy and the Western academy by relocating the Indian mind in its multiple, classical tradition of thought, in what has always been a donor tradition. This is how we follow up the political and economic freedoms by the freedom of the mind. In this perspective, in literary studies, we must reactivate Indian frameworks in the university syllabi. (*SLT,*40-41).

Similarly, Rajiv Malhotra, another eminent culture theorist, has launched an intellectual satyagraha against the predatory nature of Euro-Americo-centric knowledge-systems that are out to devour and digest the Indo-Vedic "dharma-centric" vision of life embodied in its knowledge-traditions. Hence, the urgent need to disseminate the unifying grand narrative of Bharat/India to counter the threat being posed to its cultural freedom. He rightly says:

"India urgently requires a positive grand narrative, one that will help Indians understand the benefits of being together. The challenge I am accepting is to show that India does indeed have a unifying narrative which is continuous and organic, and which does not need to be made up synthetically to keep the nation together. Our grand narrative is a civilizational one and it is imperative for us to re-discover it, for ourselves and for a role we can play on the world stage. A robust, unifying and strong national narrative must strengthen the nation militarily and help its institutions grow economically, culturally and politically."[20]

In order to illustrate how the Americo-centric left-secular intellectual discourses tend to sanitize the "dharma-centric" Indian tradition of literary theory or poetics, he critically

20. Rajiv Malhotra, *Weaving India's MAHAKATHA (Grand Narrative) for the 21st Century,* Shimla, Indian Institute of Advanced Study, 2018. p.14.

examines, in his book, *The Battle for Sanskrit: Is Sanskrit Political or Sacred? Oppressive or Liberating? Dead or Alive?*[21] the discourses of Sheldon Pollock, the eminent American scholar of Indic studies :-

"In summary, for Pollock, kavya has been devoid of the sacred element for the most of its history, and only recently was 'religion' (as he calls it) added to kavya. My issue with him is that he excludes the sacred dimension of rasa and kavya as something inherent from the very beginning. By doing this he is undermining the integral unity of kavya with the rest of the Vedic tradition. His agenda compels him to do this because he wants to argue that kavya was strictly political (and hence not spiritual) in nature."

III. On Chiti (the essence or soul of the nation): Recontextualizing Deen Dayal Upadhyaya

If the very source of our vision of education and education - system, even seven decades after the attainment of political freedom, remains Macaulay-driven or Euro-centric, how can we, the Indians, claim to have realized social and cultural freedom or swaraj?? If both the vision of "education" and "the education-system", as they are implemented in India, remain alienated from the spirit or soul of the nation, so aptly addressed as "chiti" by Deen Dayal Upadhyaya in his speeches and writings, how long can we evade "the consequences and conditions" that "may be fatal to national life in India"- as rightly stated by Deen Dayal Upadhyaya. Deen Dayalji understood the characteristic feature of Indic or what may be called the Hindu way of life according to which the very concept of "jnana/vidya/shiksha" (referred to as knowledge/education in the western worldview)" is "dharma-centric (righteousness-centric) leading to moksha or mukti (true liberation). Needless to say, the soul

21. Noida, HarperCollins Publishers India, 2016, p.210. Even his other books such as *Indra's Net* (Delhi; Harper Collins 2014) and *Breaking India* (Delhi; HarperCollins, 2011) offer a scathing yet critically cogent analysis of how systematically the anti-India, anti-Hindu, breaking-India forces have been , since India's independence, actively plotting to disintegrate and destroy the "dharma-centric" Indian civilization and also chart out a programme for liberating Indian academy from the stranglehold of Euro-Americo-centric cultural imperialism.

of India or its "chiti" is "dharma" (righteousness, good conduct, justice, duty, right, character, morality, spirituality, law etc.). For example, Gandhi rightly says that "Essential simplicity and spirituality is the hall-mark of Indian culture" (*Harijan*, February 18,1939). It is this implication of "chiti" as "sprituality or adhyaatma" , in its applied form (not only in its textual form), that is the essence or the meaning of Bharat according to Gandhi and Deen Dayal Upadhyaya both. So much so that Gandhi wrote a book - *Dharma-Neeti* (Righteousness and Its Practice)[22] in South Africa in order to emphasize that it is "dharma" (both as a vision of morality or spirituality as well its performance or ethical action) that constitutes the "chiti or the soul" of the nation and national consciousness. Hence, the vision of goodness or morality (dharma in its normative form) cannot be separated, in the context of Bharataiya samskriti/Indian culture, from its performative aspect or neeti; in fact, both are one.

This manifests itself in the visions and actions of its great avataras (incarnations of the Divine as Rama, Krishna, Shiva, Shakti etc), great rishis (seers and sages), its great bhaktas, including women bhaktas, who came from all parts of Bharat/India and created an Akhil-bharatiya (pan-Indian) cultural consciousness for social and spiritual transformation in ancient as well as highly turbulent historical contexts, leaders (like Swami Vivekananda, Swami Dayananda, LokamanyaTilak, Jotiba Phule, Tagore, Sri Aurobindo, Gandhi, Jayaprakash Narayan, Rammanohar Lohia, Dr Ambedkar and others. The most visible sign of the essence of our national "chiti" is the overwhelming significance of "dharma" (righteousness or morality) and "moksha or mukti "(true liberation) which implies- social, political, economic, cultural and spiritual freedoms. In the wisdom/knowledge-traditions of India, if "dharma" (righteousness) remains the foundation of all ethical human actions and efforts aimed at ensuring the "lokasamgraha or welfare of all", the human beings are required to engage in the ethical pursuits of wealth ("artha"- which also means political economy) and desire ("kama") also. Hence, all the three cardinal principles or purusharthas – "dharma", "artha" and "kama", if practiced in accordance with "dharma" (ethical duty/righteousness), will ensure "moksha" or "mukti" (liberation), the highest goal of life. That is why, the pursuit of "jnana/knowledge", in Indic civilizational contexts, will lead to the attainment of holistic "moksha or mukti" implying the realization of social, political, economic, cultural and spiritual freedom.

22. New Delhi, Sasta Sahitya Mandal, 2008.

Thus, the great devotee – Prahlad, in *Vishnupurana* (1.19.41, p.89)[23] tells his father, the demon-king, Hiranyakashyipu, that the goal of "vidya/knowledge" is "mukti" or liberation:- "Tatkarma Yannabandhaaya, Saa Vidyaa Yaa Vimuktaye/ Aayaasaayaa Param Karma Vidyaanyaa Shilpanaipunam" (That which binds is not true action; True knowledge is that which liberates. All other kinds of action are insignificant as all other kinds of knowledge are mere crafts).

The question is – "Can our present education-system, which may well be said to be functioning as a by-product of the Macaulay(ian) project of translating Indians into brown Europeans, protect, preserve, propagate and expand the core-values or essence of Bharatiya/ Indian world-view which is "dharma-centric"- aimed at character-building or ethical transformation of human beings or young Indian citizens?? The answer is an emphatic and ready-made – "No!" The reason is that the present education-system in India is not, and has not, for long, been in sync with the ethically loaded core of India's national and cultural consciousness, that is, "dharma"- so aptly considered by Deen Dayal Upadhyayaji as "chiti" or the soul of the nation. Even the Indic or Bharatiya philosophical systems are grounded in "dharma". For example, the first sutra of *The Purva-Mimamsa-Sutra of Jaimini* is "Athato Dharma Jigyasa"(Now, therefore, (there must be)an inquiry into the (the nature of) duty.[24] According to the first sutra of Nyayadarshana (Logic), the aim of logic or method of logical inquiry is eventually to attain "nishreyas" or supreme good or true liberation[25]. Similarly, the first sutra of the Vaisheshik Darshana (Vaishika system of philosophy) is "Athato Dharma Vyakhyasyamah" (Now, from here onwards, we will begin the discussion of dharma) and the next sutra further reinforces the significance of "dharma"- " Yato abhyudaya nihshreyasa siddhih sa dharmah"(That which makes one attain worldly well-being as well as true liberation or supreme good is called dharma)[26]. But this attainment of supreme good or true liberation (moksha or nihshreyash) by constantly performing dharma does not imply a kind of escape

23. *Vishnupurana,* Gorakhpur, Gita Press, 1989.

24. *The Purva Mimamsa Sutra of Jaimini* (Translated by Mahamahim Pandit Ganganath Jha),New Delhi, Cosmo Publications, 2008, Chapter 1.1, p. 1.

25. *The Nyaya Sutra of Gotama* (Trans. By Nandalal Sinha and Satisa Chandra Vidyabhusana), Delhi, Motilal Banarasidass Publishers, 2016 (First published 1930). Chapter 1.1 p.1.

26. *Nyaya Evam Vaisheshika Darshana* (Ed. Acharya Shriram Sharma and Mata Bhagawati Sharma), Mathura, Yuga Nirmana Yojana, 2012. Chapter 1.1 and 2 , p.13-14.

from worldly or social duties or samanya dharma. Professor Kapil Kapoor, in his "Editorial Introduction" to *Encyclopedia of Hinduism* (Volume I)[27], rightly states that "this liberation is not individual salvation at the cost of social or general well-being. This is not so because the question of knowledge has always been discussed/located in an ethical framework. Knowledge must promote dharma. What is this dharma that knowledge must promote? It is defined in the *Mahabharata* as that which promotes the general welfare of mankind. . . .(or) *lokasangraha*, the collective well-being of the people. Knowledge informed by dharma connects the individual to the society (liv-lv)". One can also quote how S Radhakrishnan, in his book, *The Hindu View of Life*[28] defines "dharma" in moral terms (not in religious terms) as a key to the study of the "Hindu View of Life" which is the best way to define "Hinduism or Hindutva":

> Dharma is right action. In the Rg Veda, rta is the right order of the universe. It stands for satya or the truth of things as well as the dharma or the law of evolution. Dharma formed from the root dhr, to hold, means that which holds a thing and maintains it in being. Every form of life, every group of men (human beings) has its dharma, which is the law of its being. Dharma or virtue is conformity with the truth of things; adharma or vice is opposition to it. Moral evil is disharmony with the truth which encompasses and controls the world. . . . If life is one , then there is one master science of life which recognizes the four supreme ends of *dharma* or righteousness, *artha* or wealth, *kama* or artistic and cultural life, and *moksha* or spiritual freedom.

Similarly, Deen Dayalji in his second lecture on "Integral Humanism" (delivered on April 23, 1965– see *DDUSV*, Vol.12, 59-62) explains in detail the interconnection between and interdependence of the four "purusharthas", that is, the four ends of life. He also underscores how they should be grounded in "dharma"(righteousness) in order to sustain a good society. In his writings and speeches, Deen Dayalji always reaffirms that "dharma" remains the soul or chiti of the nation which should inform our different world-views, our national visions, objectives, policies, institutions, and their implementation, through national agencies or organizations or institutions, starting first at the local/rural/grassroot level and then

27. New Delhi, India Heritage Research Foundation in association with Rupa & Co, 2010, liv-lv
28. S Radhakrishnan, *The Hindu View of Life*, Noida, Harper Element, 2012 (First published 1927), pp.53-4.

moving upwards. He rightly says: "The creative confluence of land, people and samskriti (culture), which are interdependent, gives rise to what we call rashtra or the nation.... But the practices/actions that form the foundation of safety, growth, and prosperity of the rashtra or the nation, that is the result of this creative confluence, are called "dharma/righteousness". It is "dharma or righteousness" that remains the foundation of our national life; it ensures our holistic national progress which includes the material and the spiritual/moral progress ("abhyudaya" and "nihshreyas") and inseparably connects the fragment or the part or an individual ("vyashti") with the whole or "samashti"... A nation that remains "dharma-centric" in all its actions and execution of policies, proves a truly welfare-oriented nation for all the three primary constituents of the nation - the land, the people and samskriti or culture. It is this "dharma-in-practice" (not "dharma-in-theory" alone) that works as an ethical determinant of the networks of interpersonal relations, the relation between the part and the whole (or the individual and the society), between one form of whole and yet another form of the whole, between all forms of inanimate and animate entities and their behaviours/natures-making all these function in consonance with the dharmic-sanatan- parampara (eternally ethical tradition) of Bharat/India. Needless to say, it is this "dharma" that pervades all aspects of our vision of life."[29]

It is in this sense that all our national life and its constituents such as the Constitution, the legislature, the judiciary and the media Needless to say, the education system and its institutions are an important part of inculcating the chiti or the soul of the nation (, that is, the core ethical/spiritual values).

Even Mahatma Gandhi, in the eighteenth chapter – "Education" of his seminal text – *Hind Swaraj*[30] (1909) warned us, the so-called educated (westernized- English-speaking) Indians in no uncertain terms about the dangerous social-political-cultural consequences of continuing with the Euro-centric system of education which is not in harmony with the ethical world-view (or the dharma-centric holistic vision of the people of India) and their collective consciousness:

29. Deen Dayal Upadhyaya. *Rashtra-Chintan (Meditations on Nation).* Lucknow, Rashtradharma Pustak Prakashan, 1968, pp 130-131) Hereafter cited as *RC* with page numbers in parentheses.
30. Navajivan: Ahmedabad, 2006.

> To give millions a knowledge of English is to enslave them. The foundation that Macaulay laid of education has enslaved us. I do not want to suggest that he has any such intention, but that has been the result….It is worth noting that, by receiving education in English, we have enslaved the nation. Hypocrisy, tyranny, etc., have increased. English- knowing Indians have not hesitated to cheat and strike terror into Indian people…It is we, the English-knowing Indians, that have enslaved the nation. The curse of the nation will rest not upon the English but upon us. (78-79)

Gandhi could easily realize that the education both in theory and practice in the colonized India was not in grounded in the meaning or essence of Indian culture and society (Bharatiya sanskriti and samaj)- which may also be called the *chiti* or soul of India (according to Deen Dayal Upadhyaya). Gandhi's perception of the contemporary education system in the post-independence era in India would not have changed his comments on Indian education as reflected in *Hind Swaraj* almost nine decades ago. It is, therefore, no coincidence that Pandit Deen Dayal Upadhyaya remembers the two great visionary-activists of *swaraj* or freedom in the holistic sense- Gandhi and Tilak, in the very beginning of his important discourse on "Ekatma Manav-darshan/ Manavvada (Integral Humanism)". According to Deen Dayalji, the attainment of true knowledge or jnana, which should be the goal of "shiksha/education" in India or elsewhere, produces "ekatva/ekatmakata or oneness or integral consciousness" which results into the welfare of all (*sarvodaya*). Echoing Gandhi's critique of modernity and modern education system, Deen Dayalji also warned the Indians that the sheer mimicry of the western education and culture has been destroying the creative power of the people of India (Upadhyaya Vol. 1, 192-194). This creative power of India is the *chiti* or soul of India as a nation that gets stifled and damaged by the imposition of an alien education system which is driven by predominantly economic and materialistic goals. He rightly says that "all those laws that nurture and sustain entire humanity as well as the whole creation are collectively connoted by the concept of dharma. We have to contemplate the whole of life considering dharma as its very foundation. When nature including the human nature is refined or purified in consonance with those laws called dharma, it is called "samskriti/culture". It is this "samskriti or culture" that will be able to hold and sublimate the human life ethically. As I already told you, what

forms the substratum of the foundation and aim, theory and ideal of this "samskriti or culture" is the unity or integrality of life." (*DDUSV,* Vol 12, 56-7).

IV. The Untranslatables: "Shiksha" and "Chiti" in Indian Contexts

In his third lecture on "Integral Humanism" delivered on 24 April 1965 at Mumbai, Deen Dayalji considers "chiti" (which cannot be exactly translated into English) as the soul of the nation and brilliantly illustrates with suitable examples how the mutually interdependent ethical triad of "chiti- samskriti-dharma" (soul of the nation- culture- righteousness) lies at the centre of the nation. He defines "chiti" as "innate nature" of the nation and its people. Naturally the innate nature or "chiti"of the people of Bharat has been their firm faith in "dharma" or righteousness (not to be confused with the belief of Hindus in what is called Hinduism or Hindu religion) that informs all their ideas, institutions and efforts to forge an all embracing national or jatiya identity. It is this "chiti" that determines the direction of a nation's cultural advancement as whatever is in accordance with "chiti" adds to and provides momentum to national culture (*DDUSV* Vol.12 68-84). In the context of Bharat/India, Deen Dayalji states:

> If there is any standard for determining the merits and demerits of a particular action, it is this "chiti" that remains the touchstone of making a distinction between the right and the wrong. Whatever is in accordance with "chiti" or innate nature is approved and added to our samskriti/culture. These things/values/ideas/institutions, which are in consonance with our "chiti" are to be further developed. On the other hand, whatever is against our " chiti" or innate nature (mool prakriti, that is, being dharma-centric or dharma-saapeksha in all conditions and contexts) is discarded as perversion, undesirable and is to be avoided. Chiti, thus, is the touchstone upon which each action, each attitude or approach to or perspective on life is tested to be accepted or rejected. Chiti, in this vital sense, is the soul of the nation. It is on this foundation of "chiti" that a nation arises and becomes strong and visible. And it is this chiti that manifests itself in the conduct of every great person of a nation. (*DDUSV*, Vol 12. 69)

Unfortunately enough, during the post-independence era in Bharat/India, the ruling party/parties not only ignored the dharma-centric chiti or soul of the nation but also undermined it in the name of perpetuating what has strangely been called "dharmanirapekshata-vad or secularism". This historically and culturally alien idea of secularism or "dharma-nirapekshata-vad" was imposed on a nation and civilization called Bharat that was, is and will always remain a "dharma-centric" or dharma-sapeksha civilization/nation- resulting into the considerable loss of "chiti" as well as "virat". How can one say that the Indian brand of secularism that has been defined as "sarva-dharma-sambhaav (equal respect for all religions) is not grounded in the "dharma-centric" Vedantic worldview of Bharatiya samskriti/Indian culture that revers and celebrates (to say that Indian culture is marked by tolerance for diversity is , at best, only half-truth!) all kinds of socio-cultural and environmental diversity?.[31]

In his discourses on "Integral Humanism", Deen Dayalji further connects the innate essence or soul of the nation called "chiti" with the idea of "Virat" (another untranslatable cultural referent which may loosely be translated as "the whole") that is the shakti or vital power of the nation. He says that as "chiti" is the foundation of the rashtra or the nation, similarly the shakti or vital power that sustains the nation is called "Virat". Virat is that collective power of action of the nation (or karmashakti) that is activated and unified through awakening

31. See "Prithvi Sukta" *Atharvaveda,* Chapter 12. 1-63. The Prithvi or Bhoomi Sukta holds that the people living in the sacred land ("Punya Bhoomi") of Bharat exhibit such qualities as adherence to truth, deep understanding of the cosmic order, wisdom or profound skill in application of knowledge, valour, spirituality, and spirit of sacrifice. It displays an amazing reverence for all kinds of diversities-social, cultural, geographical, biological and ecological/environmental. pp. 1-10. The Earth Sukta (12.2, p.1) celebrates how the people inhabiting this land, despite their differences of qualities, conduct and nature, live in a harmonious environment marked by symbiotic and integral co-existence. This "Punya Bhoomi" or sacred land is held firm by "dharma" ("dharmana dhritam"- Ch 12.17, p.4). It also repeatedly says that " let no one among us who hates the other and let there be no one in the world who should hate others (Ch.12. 18, 23, 24,25 pp.4-5). This "Punya Bhoomi or sacred land" also gives shelter to people who are different from one another, who follow different ways of worship, speak different languages (Ch.12.45, p.8). Three signifiers- "Prithvi", "Bhoomi" and "Rashtra" are used to refer to the geo-cultural space called Bharat. This sukta celebrates diversities and integrates them in a kind of dharma-centric cultural unity. It is really amusing to hear that "sarv-dharma-sambhaav", which is a remarkable feature of our "dharmik/ethical worldview" is an equivalent of "secularism"!! See *Atharvaveda Samhita*, Vol.2, (Edited by Acharya Shriram Sharma), Mathura, Yug Nirman Yojana, ,2010.

of "chiti". In the life of the nation, if "chiti" is the soul, "virat" or collective power of action, remains the vital life-breath or prana. It is through vital life-breath or prana (that is the power of collective action) that the all the sense-organs (that is, the different institutions of a nation) are energized. It is through "virat" that the faculty of intelligence is made alive and functional and the soul (the chiti or innate nature or essence of the nation) remains established in the body (or the nation-state or rashtra-rajya). Different constituents or institutions of a nation remain active and capable so long as the "virat" or collective power of action (karma-shakti) of a nation remains strong. The huge network of national institutions becomes a sham if the collective power of action or virat of a nation declines. Democracy becomes successful on the basis of the condition of "virat". The diversity of a multicultural, multilingual, multireligious nation like Bharat does not become an impediment to national integration only when the "virat" of our nation remains strong and well-developed. Differences - professional, linguistic, religious, regional etc do exist, but a highly evolved state of "virat" unify or integrate these apparent difference into a national unity without many conflicts and instances of violence. The people, despite their many differences, symbiotically co-exist and live in peace and harmony like the constituents of body or the members of a family. (*DDUSV*,Vol 12, 99-100). It is obvious that Bharat as a civilization and a nation will remain ethically and materially strong so long as its constituents such a "chiti" and "virat", as explained above, are awakened, protected, and developed through all forms of national institutions and discourses. Shiksha (which cannot be translated as education in Indian contexts as it is a much more semantically loaded term than education) is an important means to awaken, strengthen, evolve and nurture two vital constituents of the nation- the soul of the nation or "chiti" and the power of collective action of the nation called "virat. Chiti remains an untranslatable Indian/Bharatiya concept ("chiti" etymologically comes from Sanskrit term- "chit" implying "thought", "intellect", "spirit" "soul" and it may also be tentatively translated as "understanding, the thinking mind". Williams, 581) that Deen Dayalji uses to signify "the soul/the spirit of the nation". In this section, Deen Dayalji's vision on education/shiksha and chiti as reflected in his *Rashtra-Chintan*[32] (Meditations on Nation), *Integral Humanism* and other writings will be discussed in brief. "Shiksha"(which comes from Sanskrit root- "shiksh") , in the Indic tradition, etymologically and epistemology, inter alia, implies – " to learn, to acquire knowledge, study, to practice, to

32. Deen Dayal Upadhyaya, *Rashtra-Chintan*, Lucknow, Rashtradharma Pustak Prakashan, 1968; Subsequently cited as *RC* with page numbers in parentheses; all the quotations from this text have been translated by me)

learn from, to be able help others, to wish to help others, to wish to give, to offer one's service to, to impart knowledge, to teach, the desire of being able to effect anything, the wish to accomplish etc" (Williams Vol 2, 1277). Thus , " shiksha" is a much deeper and wider term that has more civilizational and social significations than the English term- "education". Etymologically "education" (from Indo-European root *deuk*- meaning – to pull, to draw, to lead; Latin- *educare*- to lead out- See *The New Book of Knowledge,* Vol.2, 1512[33]) primarily refers to the act of providing "with knowledge or training, especially through schooling/teaching;" or the act of disciplining or training or instructing" (*The New Book of Knowledge,* 415). It is obvious that "education" as a term or concept cannot imply "shiksha" which has multiple meanings. It is, therefore, a common fallacy prevalent in Indian educational and cultural discourses to borrow the western terminology (primarily English) to refer to or signify the meanings which are peculiarly Indian and are untranslatable into any European language. Moreover, once the Indian scholars or readers or students internalize the western concepts to understand the dharma-centric Indian world-view or concepts, the damage is incalculable as it gradually but surely creates cultural amnesia among the Indians. In other words, "shiksha", in the Indian contexts has to be in consonance with India's *chiti* or soul as a nation. Deen Dayalji makes an important observation in this regard: "When a nation is independent, shiksha (education) is imparted to children in order to develop the latent powers of children according to the true aim of the nation (, that is, to develop its "chiti" and "virat") so that they may become the conscious, capable and responsible citizens of the nation. Through that shiksha (education), we are not alienated from society, but we are constantly reminded, at every step, how greatly indebted we are to society and what our duties and obligations are towards our society" (*DDUSV,* Vol.1, 130). Deen Dayalji contrasts the systems of imparting education in ancient and modern colonial and postcolonial Bharat/India. In doing so, he severely criticizes the Macaulay-driven, package-centric, greed-based "shiksha or education" being imparted through the modern Indian education-system of colonial and postcolonial Bharat:

> There (in ancient India) were no students, like the students of colonial or postcolonial India, whose power of thinking has become paralyzed because of their colonial minds, whose selfish and immoral life-style has completely dried up the emotional springs in their hearts, whose feelings have become atrophied, whose compassion has been blunted, where their collective capacity for collective action, industry and perseverance

33. Haughton Mifflin: Massachusetts, 1981.

for social good has vanished against the backdrop of all pervasive idleness. Such thoughtless, emotionless, inertia-ridden students did not exist in ancient India. (*DDUSV*, Vol 1,131).

There may be a tinge of sweeping generalization about the colonial or postcolonial education system in his statement cited-above but it contains, broadly speaking, the kernel of truth. If one reads the draft of the TSR Subramanian Committee Report for Evolution of the New Education Policy 2016[34] (which, like the Constitution of India itself,) has not been written in any Indian language (even the Hindi-version of the Constitution is a translated text and does not have the legal validity as only the English text is the legally valid text of our Constitution) listed in the Eighth Schedule of the Constitution of India!!. More is the pity that the much-awaited 230-page long TSR Subramainan Report for the Evolution of New Education Policy 2016 sporadically and reluctantly refers to the word "values" in two pages- first when it quotes a statement from the Radhakrishnan Commission Report-1948-49 on the first page. Subsequently, in the Section 1.3 (page 4) - " The Way Forward", such words as " building values", "values", "value-orientation" , "values are ignored" have been sprinkled here and there without ever caring to spell out or describe what these ethical values are and how they naturally emerge from the "dharma-centric" worldview of Bharat/India. It rather eloquently talks of "religion", "secularization of education", "acceptance of diversity of India's heritage, culture and history" but is shockingly silent about the sources of national unity- which, if mentioned, could have pointed to the "dharma-sapeksha or dharma-centric" Vedic vision of Bharatiya samskriti/Indian culture. On page 11, it is emphasized again that the "Indian society is characterized . . .. by multi-lingual, multicultural, and multireligious diversity" without even once casually alluding to India's cultural unity or its underlying sources. It seems that, in order to pander to the opportunistic urgency of political correctness and accommodate the secular-left-liberal dogmatic discourses, the Subramanian Report lays stress on the greater understanding of "diversity of India" and its "heterogenous culture" (p.12) as the primary objective of education but it conveniently and self-consciously silent on India's amazing cultural

34. *National Policy on Education 2016: Report of the Committee for Evolution of the New Educational Policy*, Ministry of Human Resource Development, Government of India; 30.04.2016 (pdf version of the Report of the TSR Subramanian Committee is available on < nuepa.org.new.NEP2016> (accessed on 9 September 2018 at 1205 AM). All references to National Policy on Education 2016 in the essay are from this pdf version cited above.

unity and its "dharma-centric" Vedantic vision. In other words, the Report proves the apprehensions of Deen Dayal Upadhyaya about the modern education-system prevailing in post-independence Bharat/India right. Now, we can no longer blame the colonial masters for not having a dhrama-centric vision of "shiksha" (education), that promotes the innovative and creative study of, and research on arts, sciences, social sciences and humanities and also makes the students imbibe the soul or essence of India's national unity or "chiti". Even if one looks at the portal named " About Department of Higher Education" (which has been updated on 25 April 2016) available on the website of Ministry of Higher Education, Government of India (www,mhrd.gov.in>), one is surprised to notice that there is no mention of the Bharatiya or Indian "dharma-centric" perspective on education/knowledge. Nowhere has it been mentioned, in all the five rubrics/sections such as "Overview", "Vision", "Mission", " Objective", "Functions" that map up the broad trajectory of the functioning of Higher Education in India, that the primary objective of "shiksha" (education) in Bharat/India should be in consonance with its "chiti" or the soul of the nation manifest in its "dharmik or ethical values. Needless to say, according to Deen Dayal Upadhyaya, the "chiti-oriented" education necessitates the inculcation of such values as adherence to truth, pursuit of true knowledge in its multifarious aspects, compassion, self-restraint, swadeshi, sarvodaya, swaraj, ahimsa (non-violence), valour, service, acceptance of voluntary suffering for the well-being of others, sacrifice, simplicity, enjoyment of life through renunciation, oneness or integrality of existence, eco-consciousness etc. that activate the soul of the nation as well its collective power of action or karma-shakti ("Virat"). It is interesting to note that Deen Dayal Upadhyaya defines the significance of "chiti" or the spirit of the nation in terms of dharma (ethical way of life), which as an important purushartha (cardinal principle of life) pervades all interrelated and interdependent aspects of life- social, political, economic, cultural and spiritual. Deen Dayalji's discourse on "chiti" also reminds us of the vision of Ernest Renan, Sri Aurobindo, Swami Vivekananda, and M. K. Gandhi, to name only a few thinkers :

> Chiti", indeed, signifies nationness (rashtratva). This "chiti" or the national spirit manifests itself through the people of a country through their samskriti (culture), sahitya (literature) and dharma (ethical way of life). It is through this unity brought about by "chiti" that mutually shared tradition, history and civilization also come into being. (*RC* 116).

The paper also focuses on how Deen Dayal Upadhyaya reconstructs the "keywords" or vocabulary of culture and society that may be considered constituents or manifestations of "chiti" such as rashtra (nation)/rashtriyata (national consciousness or nationality), dharma(ethical way of life), samaj (society), samskriti (culture), samskar (cultural actions/impressions), jeevan-dhyeya (goal of life), individual and society, education, economy, swaraj (freedom), swadeshi (indigenous political economy), national language, national politics etc, with special reference to his essays and speeches anthologized in Deen Dayal Upadhyaya's *Rashtra Chintan* and *Integral Humanism*[35]. Lastly the paper seeks to investigate how the multivalent notion or concept of "chiti" as envisioned by Deen Dayal Upadhyaya, may, in the present contexts, help us address the flaws and fissures in the unfinished project of national integration and enable us to cope with the dangers of planetary destruction in the form of global warming and consume

The Sanskrit term, "Chiti" has multiple connotations – "understanding", "the thinking mind" – as it is also related to "cit"- meaning "thinking", "thought", "intellect", "spirit", "soul", and "pure thought" (Monier Monier-Williams 395)[36]. In order to signify the spirit or the soul of Bharat as a nation that not only manifests in is multifarious forms or diversities but also integrates them into a unity, Deen Dayal Upadhyaya (hereafter referred to as Deendayalji), used the Sanskrit term- "chiti" in his writings and speeches. In his thesis on integral humanism ("ekatmaka manava vada"), he defines "chiti" as a "Nation's soul" – that arouses, organizes and canalizes the power – "Virat or the life-principle" (i.e. "Prana") which "energises and activates the Nation" as a culture (samskriti) and society (samaj). Thus, it is through the unfolding of "chiti" or the spirit of the nation in its diversified yet mutually inclusive social, political, economic, aesthetic, cultural, and spiritual forms that the integrating shakti (power) or "Virat" manifests itself. Deen Dayalji further explains how "chiti" and "virat" function as the interdependent coordinates of Bharat as a democratic nation:-

35. *Integral Humanism*,(comprises the four lectures delivered by Deen Dayal Upadhyaya in Mumbai from 22nd to 25th April 1965) Source: www.chitrakoot.org/download/Integral Humanism/Humanism/ pdf accessed on 3 December 2014 at 12.30 pm. Further cited in the paper as *IH* (no page numbers given in the text).

36. *A Sanskrit-English Dictionary*, Sir Monier Monier Williams, Delhi, Motilal Banarasidass Publishers Private Limited, 2002. First published -1899. Further cited in the essay as *ASED* with page numbers in parentheses)

> Just as *Prana* infuses strength in various organs of the body, refreshes the intellect, and keeps the body and soul together, so also in a Nation, with a strong *Virat* alone, can democracy succeed and the government be effective. Then the diversity of our Nation does not prove an obstacle to our national unity. The differences of language, occupation, etc., are present everywhere. However, when the *Virat* is awake, diversity does not lead to conflict and people cooperate with one another like the various limbs of the human body or like the members of the family. (*IH*)

Thus, accoding to Deendayalji, it is through the harmonious "Virat"-"Chiti" relationship, which may also be termed as the relationship between the power-principle and the creative or constructive principle, that the nation expresses its sense of unity in diversity. In order to understand the significance of this creative and integral spirit (chiti) of the nation that informs the characteristics of its nationness (rashtriyata and its cognates- nationality, nationalism), samskriti (culture), samskara (cultural actions/impressions) one has to "turn one's gaze inward" (*RC* 115). The underlying power or the driving force of our commitment or "devotion to the nation and our identification with the people", which is a salient feature of our nationalism, does not emerge from either the unity of our self-interests or enmity/friendship with others. Deen Dayalji holds that the clue to this unity, or oneness or ekatmata ("ekatman"- one spirit, having the same nature, the unity of spiritual essence, the doctrine of one universal spirit- *ASED* 230) ,which enables us to identify ourselves with all the diversities/pluralities in the form of patriotism and nationalism, lies in the extent to which we, the people, activate and are activated by this power called – chiti or the spirit or the soul of the nation (*RC* 115-16).He, like Gandhi, also underscores the moral basis of the spirit of the nation (or its avatar as nationalism) , which does not derive its legitimacy solely in terms of either anti-colonialism or the integration of our collective and contextual self-interests. In this sense, like Gandhi and Tagore, Deen Dayalji also critiques the unbridled, aggressive western discourse of nationalism which gained ground in Bharat during our encounter with colonialism and western civilization. In consonance with Deen Dayalji's vision, one can say that since our "chiti" (or the soul of nation) and "virat" (the collective power for action to sustain our national strength or karmashakti) was considerably weak, we were defeated and overpowered by the colonial powers. On the other hand, the colonial powers were also driven by their "chiti" or their

aggressive, greed-based nationalism that needs colonialism/imperialism to conquer, subjugate and economically exploit the weak people/nations. It is worthwhile to remember here that this spirit of the nation or chiti has a much larger role and significance in the life of the nation as a whole and it cannot be equated with or limited to the spirit of anti-colonial nationalism. According to Deen Dayalji, national integration (rashtriya ekata or ekatmakata) cannot be fully worked out or realized among the people who may be politically united contextually and accidentally but are inspired by different and conflicting forms of "chiti". That is why, he asserts that unity of language, culture, civilization, ethical way of life (dharma), territory, political economy etc., which are considered as the determinants of our national integration/unity, are themselves the result of the oneness of chiti (the spirit of the nation or the national spirit). In other words, without the dissemination of this integral and unifying spirit called "chiti", true national integration cannot be achieved despite the commonality of other crucial factors like language, culture, religion, territory etc. He aptly says:

> The rise of the nation depends on the awakening of "chiti" (the spirit of the nation); the destruction of chiti causes the decline of the nation. In the colonized state, it is the "chiti" of the subjugated people that is trampled on or assaulted considerably weakening its impact on the consciousness of the people at large. (*RC* 116).

Therefore, true patriots or nationalists are those awakened activists who disseminate the light of "chiti" among the people even amidst darkness and apparent defeat and are of firm conviction that, by continuously strengthening the spirit of the nation, they are not only trying to make a better nation but also a better humanity or world. Our inclusive and integral nationalism at present should be more constructive as it should be rooted in our chiti which finds its excellent utterance in the Bhoomi Sukta" of *Atharvaveda Samhita* (Kanda or Chapter 12.1-63, pp. 1-10[37]) that reiterates the celebration of the following:

37. Edited by Shri Ram Sharma. Vol. 2. Yug Nirman Yojana: Mathura, 2010.

a. linguistic, ethnic, panthic (panth-based) diversities, the practice of core-values such as satya (truth), rita (cosmic order), ugrata (valour), diksha (acquisition of education and skill), tapas(austerity), adhyatma or brahma jnana (spiritual knowledge) and yajna (consecrated action).

b. the spirit of "samanjasya" (symbiotic co-existence) or non-violence towards others ("ma no dwikshata kashchana") or interdependent/ integral humanism for universal peace and progress.

c. nurturance of all flora and fauna, all kinds of aushadhi and vanaspati and all vital elements – minerals, air, water, fire, land and space.

d. institutions of democratic ethical governance – at the local and the national (or grama and nagara) levels.

Moreover, as it is obvious from the preceding analysis that the constituents of our chiti or the spirit of the nation are, far from being metaphysical or otherworldly, rooted in our everydayness or quotidian ethical existence . One may also cite here the "Vanijya Sukta" (the Trade-Mantra) of the *Atharvaveda* (Ch. 3.15.1-8) which is also underpinned by the core value of our "chiti", that is dharma, or performance/practice of the moral duty/obligation/ right conduct or action on the part of all the stakeholders of business and trade.

It is, therefore, difficult to pin down the notion of "chiti" strictly in terms of any "ism" and ideology or a singular, dogmatic perspective. Deen Dayalji relates the concept of "chiti" to our notions of "dharma" (ethical way of life- sometimes he uses chiti and dharma interchangeably) that primarily characterizes our "samskriti"(culture). He holds that " Our dharma is the soul of our nation which has no meaning without dharma. It is neither its vast territory or varied enormous population that solely forms this nation of Bharata. What is needed is a sutra or thread that binds this vast land with so many people. That sutra or integrative thread is dharma without which the very vitality of our national life will be destroyed and its driving force gone" (*RC* 120). In his lectures on integral humanism, Deen Dayalji further explained the interconnectedness of chiti-culture and dharma:

If there is any standard for determining the merits and demerits of a particular action, it is this Chiti: whatever is in accordance with our nature or Chiti is approved and added on to the culture. These things are to be cultivated. Whatever is against Chiti is discarded as perversion, undesirable and is to be avoided. Chiti is the soul of the Nation. It is on the foundation of this Chiti (soul) that a Nation arises and becomes strong and virile. And it is this Chiti that is manifested in the action of every great man of a Nation. (*IH*)

It is important to underline that Deen Dayalji considers an individual citizen as a representative of samskriti or culture at the local, national and global or the trans-national levels/aspects and also emphasizes these " multitude of aspects" are not conflicting but are marked by " cooperation, harmony and unity" among them. It is the realization of "chiti" or dharma which eventually gives rise to what has been called integral humanism:-

A system based on this the recognition of this mutually complementary nature of the different ideas of mankind, their essential harmony, a system which devises laws, which removes disharmony, and enhances their mutual usefulness and cooperation, alone can bring peace and happiness to mankind, and can ensure steady development.(*IH*)

Deen Dayalji also highlighted the fact in Bharatiya parampara or samskriti, "state" is not supreme. Rather it is dharma, which is not religion, that is supreme. The ideals or the values of the nation are shaped by its chiti or dharma. In this sense, the laws that "help maintain and manifest Chiti of a Nation are termed Dharma of that nation. Hence it is this 'Dharma' that is supreme. Dharma sustains the Nation. Hence we have always given prime importance to Dharma, which is considered sovereign. All other entities, institutions or authoritiers, derive their power from Dharma, and are subordinate to it" (*IH*).

Upasamhara /Conclusion:

It is in this sense that Bharatiya samskriti (Indian culture) as well as " shiksha" cannot be "dharmanirapeksha" (as it is translated into a strange discourse of secularism as "sarvadharmasambhav") . True "shiksha" builds the national character as it imparts the values such as "service" and " sacrifice" through all kinds of ethically grounded knowledge-systems.

"Dharma", the ethically loaded signifier is a salient feature of our chiti or the national culture. Dharma, Deen Dayalji, further clarifies, is the innate law of integral existence, a cosmic law, that decides, just to give an example, the " propriety of behavior in various situations" (*IH*). Dharma, thus, cannot be majoritarian or minoritarian or subaltern as it is sanatan or eternal and holistic in its essence. Dharma connects, according to Deen Dayalji, the vyashti (the individual), the samashti (collectivity- society, nation, world) and the parameshthi (the highest form of realization or reality). That is why, the "chiti" of the nation in the context of Bharat/India will be substantially damaged or destroyed if such evils (or "adharmik"/unethical practices) as caste-system, westernized education-system, absence of health-facilities for citizens, corruption in public life, communalism, religious fundamentalism, consumerism, terrorism, economic and social inequalities, oppression of women, greed-based non-sustainable developmental model, destruction of ecology, etc continue to characterize the national life. Using this interpretative logic, "dharmarajya" or "Ramarajya" does not connote a theocratic state; but rather point to the possibility of the establishment of an ethical, good, just and inclusive society/state based on such values as satya, ahimsa, karuna, samata, nayaya, swaraj, and sarvodaya. That is why, Deen Dayalji asks us to critically re-interpret, reconstruct and re-place dharma (righteousness) in all activities and institutions of our national life as inscribed in *The Laws of Manu* or *Manusmriti* (Ch.6.92) which may also be considered as the coordinates of our chiti/ dharma/samskriti:-"The ten points of duty are patience, forgiveness, self-control, not stealing, purification, mastery of the sensory powers, wisdom, learning, truth and lack of anger"[38] And , to further highlight how it is important for us to understand the significance of the soul or essence of the nation ("chiti") in order to follow the path of dharma, one may cite further from the *Laws of Manu* or *Manusmriti* (Chapter 8.15):-"When dharma(justice) is destroyed, it destroys; when justice is protected, it protects. Therefore, justice must not be destroyed, or justice destroyed may kill us" (*M* 153).

The significance of "dharma-centric" vision of Deen Dayal Upadhyaya cannot be denied in the present times.

38. Wendy Doniger and Brian K Smith (Trans.) *The Laws of Manu*, New Delhi, Penguin, 1991. Further cited as *M* with page numbers in parentheses.

IN DEFENCE OF A HINDU INDIA

Om Prakash Dubey*

In the tradition of "*Sarva Dharm Sambhava*" (Religious Egalitarianism) and co-existence we the people of India, having solemnly resolved to maintain India as a sovereign Democratic Republic, can urge the Govt. of India to declare the republic Hindu nation while upholding the right of every person to enjoy that person's freedom of conscience or religion. A lot of anxiety occurs whenever a call to declare India as a Hindu nation is made by nationalist Indians belonging to all religions, i.e. Hindu, Muslims, Christians, Buddhists, Sikhs and others. A few persons hold that India should not be declared a Hindu Nation because of the presence or existence of other religions. So as to put such persons at ease it is necessary to explain what the declaration, India as Hindu nation, will mean. What does it mean then that India is a Hindu nation, and how is every Indian and non-Indian, Hindu and non-Hindu in India affected by this?

The declaration means that Spirituality is supreme over India and that we have to let Spirituality be in full control of each and every aspect of India's life and will look for wisdom and guidance in the enormous task of building our nation. To be a Hindu nation is to be a torch-bearer of spiritual light to the world to regain the glory of Jagat Guru Bharat as it was called in the past. India as a Hindu nation will be a privileged nation as it will be nation dedicating itself to spirituality. The bold and positive proclamation will call for great responsibility on the part of the people. This responsibility will have great meaning and a more positive effect in the home, at workplace, in local communities, and spread nationwide to the glory of high moral, strong character, good conduct and awareness of duties. The awareness of national and social duties trough the revival of spirituality should permeate the society and help to change attitudes and increasingly destroy forces of corruption and inactiveness. To be a Hindu nation is to reflect the values of spirituality propagated by our great *Rishis*, *Munis*, Saints, *Mahatmas*, *Gurus* in our lives. The people will be challenged more and more to live by the teachings of our great scriptures such as follows:

* Man Power Development & Management Consultant, LIC Colony, Prayagraj-211002

Sarve Bhavantu Shukhinah, Sarve Santu Nirmyah,

Sarve Bhadrani Pashyantu ma kaschi Dukh Bhag Bhavet.[1]

(May all be happy, May all be free from disease, May all realise what is good, and may none be subject to misery).

Atmawata sarva Bhooteshu[2]

(Consider all like your own.)

Ahimsa Paramo Dharma[3]

(Non-violence is the highest form of the religion)

Om Asto Ma sad gamaya, Tamsoma Jyotirgyamaya, Mrityorma Amritm gamaya.[4]

(Lead us from untruth to truth, Lead us from Darkness to light, Lead us from Death to immortality).

Om sahana vavtu, sahano bhunaktu, sahviryam karavavahai.

Tejaswinam adhitamastu ma vidwisha vahai.[5]

(O God I Let us all unite and protect ourselves. Let us render service to others and Let our studies be beneficial and effectives. Let there be no hatred among us.)

Ekam sad viprah bahudha vadanti .[6]

(God is one but wise men call him by various names.)

As a Hindu nation, therefore, India will concentrate on development efforts because there should be no place for crime, corruption, moral decay etc. India is a country with immense potential for business opportunities and enormous resources to be fully tapped. India is a peaceful country, and greater peace that comes from spirituality will continue to be enjoyed as more and more citizens will be filled with genuine love for one another and for God. This is one reason why non-Hindu Indians and friends of India should have no fear or anxieties whatsoever and should be encouraged to do business with India. Business opportunities and promotions will certainly not reflect a bias towards Hindu as India, the Hindu nation, will abide by love, honesty, justice and fair-play.

1. Shanti Mantra: Brihadaranyakopanishad
2. Neetisar
3. Mahabharat Van Parv - 74/207
4. Brihadaranyakopanishad - 1/3/27
5. Shanti Mantra: shvetashvataropanishad
6. Rigveda - 1/64/46

A non-Hindu should have nothing to fear as the constitution must clearly state that in declaring India Hindu nation the people will uphold the right of every person to enjoy that person's freedom of conscience or religion. Non-Hindus of India should be enjoying their rights as citizens of the republic just as much as the Hindus. There should be no fear as there will be still the common ground "humanity" between people of different faith since we believe in "*Vasudhiva Kutumbkam"* (i.e. whole world is a family). Nobody will be sidelined or harassed on account of their religion. As a Hindu nation everyone will feel spiritual love, truth peace and non-violence and better humanitarian interaction will be increasingly felt.

Finally, as a Hindu nation, India will become a spiritual nation as was the case in the past. India will regain its past glory and will be recognized as Jagat Guru Bharat i.e. world leader. Spirituality is the most effective weapon to use and we shall use it in seeking truth, love and non-violence and to strengthen us in our resolve to be truly citizen of India which will be dedicated to brotherhood and partnership to everyone.

Nonetheless, it is quite presumptuous to say the country all will turn into a rose garden. There may be citizens who may not have been exposed to spirituality and those who may be involved in activities that do not demonstrate the spiritual values and the teaching of our great saints. Even scholarly Hindus may not be perfect. This happens in every society. Our hope and prayer is that spiritual message of truth, love and non-violence will find a place in our hearts and we will blessed as a true son of Bharat Mata, if India is declared a Hindu nation. India as a Hindu nation will make all round development, i.e., economic, social and intellectual and will regain the spiritual glory of the past to be called again the golden bird and Jagat Guru Bharat.

Reference

Dubey, Om Prakash. *Hindu Dharma*.

Elst, Koenraad. *Ayodhya and After*. Voice of India, 1991.

Sinha, Rakesh (Ed.). *Secular India.* Vitasta Publishing, 2012.

Swami Amritasvarupananda. *Awaken Children: Dialogues With Sri Mata Amritanandamayi.* Vol 1 to 4. M.A. Center, 2014.

Education for Strong India

Yogesh A. Kulkarni[1]

Swami Vivekananda said that 'Each soul is potentially divine; the goal in life is to manifest the Divinity within by controlling the nature external and internal. Do this either by work or worship, psychic control or philosophy by one or more or all of these and be free. This is the whole of religion. All the doctrine or dogmas, temples or rituals, books or forms are nothing but secondary details.

We Indian always believed that mere following the formalities we are never getting the absolute aim of our life. Hence at regular intervals many great people came and reminded us that mere following the formal ways of religion will never get us to the liberation but we if make a conscious effort then and then alone we can get the spiritual liberty. Though there are 4 different ways to attain the ultimate reality we relied more on the essential parts. Following the same monotonous documentated procedures to perform any practice was not preferred by seers. They tried in different ways. Hence we noticed that although the entire sub continent was never under one single King or emperor but was under rule of small princely states and they adopted a common way of life.

We Indian understand this thoroughly. We have always termed all formal ways and methods as secondary and primarily followed the spiritual ways. It manifests in our mundane affairs too as well. All of our governance and administrative models were formal but yet they were practiced through spirits only. Strict formalities were flexibly molded and only essence was taken into considerations.

The highest sacrifice (Yajna) performed by any Chakravarti Samrat used to carry out as Ashwamedh Yajna in which the desirous King used to send one sacred horse with his army

1. 2, Sonali, Usha Darshan Society,Agra Road, Near Telephone Exchange, Kalyan (W) Pin – 421301 (India) **E mail : yogamegha@gmail.com**

and message to either surrender before him or get ready for a battle and those who used to fight should be defeated by the desirous King and only when the sacred horse comes back undefeated or un interrupted back at the capital city then the actual sacrifice called as Ashwamedh Yajna used to start. In which the most meaningful ritual used to be as be – the desirous King used to carry the sacred Horse along with his Rajdand to the altar and knock at it three times by saying –"Adandyosmi, Adandyosmi, Adandyosmi" that means " nobody can rule me". But the Purohit Rishi of the Yajna use to come before him and knock his Dharma danda on him used to say:"Dharmadandosi, Dharmadandosi, Dharmadandosi" that means even though you are ruled by the Dharma.

This means that any part of India under any King's rule used to have one common basic framework and even though the King changes from one to another the system under the rule of Dharmadanda seldom changed. The systems carried uninterrupted all over India for thousands of years.

The educations systems all over the India right from "ABC" of India that means Afghan, Burma and Ceylon (Sri Lanka) used to be very much common with some local differences. We all know that on every 12 miles the local dialect or language changes, despite the Hindi is spoke by at least 40% of India, with some changes in style and accent. The measurement units like Beegha, mile, sher and man (units of weight) varied from provinces to provinces despite the system remained same. The almanac the Panchang also varies despite the Pornima and Amavasya and the other astrological facts are very common and in tune with each other. The event like Buddha Pornima is celebrated on very one common day by all 3 corners of India ABC of India, Afghan, Burma and Ceylon. The beginning of a New Year and even month varies from place to place.

It is often argued that the European nations went to the India to do social service to a backward people; and the cause of India's present economic distress is her headstrong interest in religion. The Europeans went India because there was a great deal of wealth there and good opportunities of helping themselves to some of it. And the basic cause of India's poverty is that they were so successful in their enterprises and carried so much of gains away with them.

Here Mr. John Yale has got first hand evidence his uncle ten-generation back was Far East trader. He was well known Elihu Yale after whom, because of a bequest he gave to it, Yale University was afterwards named. He went to India in 1670 as a worker to British East India Company. By 1687 he had risen to the Governorship of Fort St. George, around which

Chennai was to develop. Five years later Mr.Elihu Yale was removed because of financial scandals concerning his administration. In those twenty years, during which his actual salary never reached more than a Hundred Pounds annually, Yale managed to amass and take to England with him a fortune, which would now be reckoned at five million dollars. The company for which he worked was able at times to issue a one hundred percent stock dividend and twenty percent cash dividend yearly for their investors.

John Yale in his book name "A YANKEE AND THE SWAMIS" - A westerner's view of the Ramakrishna Order of Monks. A publication of Sri Ramakrishna Math Chennai India

British rule did the most cruelty upon us; they cursed us by introducing us RIGID FORMAL INSTITUTIONS. Even Mughals also did not changed our indigenous systems of governance & administrations tried to get friendly our and then got melted into our flow. While the British rule harmed the system by introducing RIGID FORMAL INSTITUTIONS. All types of formalities involved became mandatory to perform the way British Rule liked and preferred.

Lord Macaulay speech

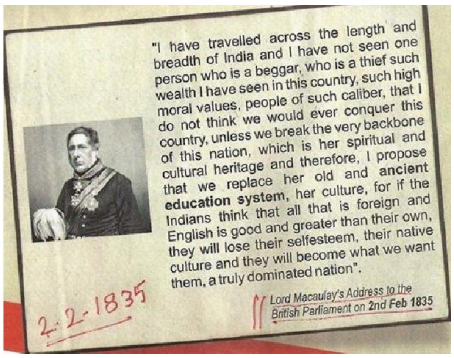

As voluminously described by Sri Dharampalji in his book named as "The Beautiful Tree"

As per the said book they had 3 approaches as under – *'our monarch, the sovereign of the banks of the Ganges...as may be necessary for discovering, collecting and translating whatever is extent of the ancient works of the Hindoos.'*

Three approaches (seemingly different but in reality complementary to one another) began to operate in the British held areas of India regarding Indian knowledge, scholarship and centres of learning from about the 1770s. The first resulted from growing British power and administrative requirements which (in addition to such undertakings that men like Adam Ferguson had recommended) also needed to provide a garb of legitimacy and a background of previous indigenous precedents (however farfetched) to the new concepts, laws and procedures which were being created by the British state. It is primarily this requirement which gave birth to British Indology. The second approach was a product of the mind of the Edinburgh enlightenment (dating back to around 1750) which men like Maconochie represented. They had a fear, born out of historical experience, philosophical ob-servation and reflection (the uprooting of entire civilizations in the Americas), that the conquest and defeat of a civilisation generally led not only to its disintegration, but the disappearance of precious knowledge associated with it. They advocated, therefore, the preparation of a written record of what existed, and what could be got from the learned in places like Varanasi. The third approach was a projection of what was then being attempted in Great Britain itself: to bring people to an institutionalised, formal, law-abiding Christianity and, for that some literacy and teaching became essential. To achieve such a purpose in India, and to assist evangelical exhor-tation and propaganda for extending Christian 'light' and 'knowledge' to the people, preparation of the grammars of various Indian languages became urgent.

The end result of *institutionalised, formal, law-abiding system has* leaded us a formal education system in India, even today we see the same concept. Even after getting the independence from the British rule we have same system. RIGID FORMAL INSTITUTIONS. But yet the RIGID FORMAL INSTITUTIONS have their paper work ready and handy. We also say and quote that a truck load of paper work can be just pushed aside just one single word of Truth. Post independent era we also continued with the RIGID FORMAL INSTITUTIONS and hence just paper formalities are continuously followed without getting the real zeal.

The rigid formal governmental organizations and departments are run by government employees they are basically – Rajanistha (loyal to the government) and not necessarily Deshbhakta patriotic. Any government employee is never allowed to take any decision on his own. Even when the situation like war or flood he or she has to rely on what are our standing orders from the senior's officials.

But unknowingly India has produced a wonder and we should be proud that we have a legacy of Voluntary organizations so called as NGOs (not for profits or Charity organizations). The growth and development of Voluntary organizations has really leaded the India where it is right now. The role and participation of the states and central government can be easily challenged and doubted. The extent and the real reach of formal institutions have certainly their own limitations. Had we not have the legacy of Voluntary organizations in various filed we would have been in real deep trouble. The business legends Tatas have all companies owned by the Tata's Trusts and we all know that the profits earned by Tata Company's goes to charity through Tata Trusts. We all know that such voluntary organizations are tirelessly working in the interests of people and are supporting many noble and charitable causes. All of our education institutions fall under the categories of Voluntary organizations since they are run by some or other society or Trust. Many such Trusts/ Organizations have been taken over by Governments and have made mandatory for appointing Governmental representative on the Governing councils of such institutions.

We fail to observe such example in reverse order. The role and participation of voluntary organization in governmental organization and machinery remain silent and has been weak enough. It can be really increased and enhanced by allotting more powers to them. In order to get voluntary organizations more powerful and making their participation we should make mandatory to ensure the implementations of every Government schemes through such voluntary organizations.

I hereby suggest your good self following points.

1) Formation of local bodies to run and manage the government aided and administered schools and not by education department alone.
2) Involvement of local talent as visiting faculty instead of hiring more and more teachers like carpenter, plumber, wireman electrician, reduce all non teaching staff to a minimum level.
3) Involving local chartered accountants in schools accounts and auditors.
4) Field work from class 8th to 12th involves at least 3 hours a day for min. 3 months.
5) Compulsory singing of patriotic songs by all classes not by select boys and girls alone and not on events only but everyday compulsorily. (Je gavay te sachvay – Gujarati proverb which means whatever we sing is get accumulated at our heart. Winston Churchil has said tell me songs on your youth's lips I shall tell you the future of your country.

झेलम के तट पर सिकन्दर की हार

प्रो. दीनबन्धु पाण्डेय*

झेलम नदी के पूर्वी तट पर सिकन्द से युद्ध करने वाले शासक को यूनानी इतिहासकारों द्वारा 'पोरोस' (Poros) अथवा 'पोरस' (Poras) नाम से अभिहित किया गया है। 'पोरस' संस्कृत के 'पौरव' शब्द का यूनानी रूप है। प्राचीनकालीन पुरु-वंश में जन्म लेने के कारण सन्तति को 'पौरव' कहा गया है। पौरव वंश के नरेशों के सन्दर्भ में महाभारत का यह श्लोक उल्लेख्य है-

पूरोर्वंशधरान् वीराञ्छक्रप्रतिमतेजसः।
भूरिद्रवण विक्रान्तान् सर्वलक्षण पूजितान् ।।

महाभारत, आदिपर्व, 49.4 (गीता प्रेस संस्करण)

(पुरु-वंश में उत्पन्न हुए वीर नरेश इन्द्र के समान तेजस्वी, अत्यन्त धनवान, परम पराक्रमी तथा समस्त शुभ-लक्षणों से सम्मानित थे।)

वंश के नाम से राजाओं के अभिधान की परम्परा रही है। इस आधार पर यूनानियों के 'पोरस' को भारतीय परम्परा के पौरवों के मूल-पुरुष 'पुरु' के नाम से ही यहाँ उल्लिखित किया गया है।

यूनानी इतिहास लेखकों एवं आधुनिक युग के अधिकांश इतिहासकारों ने झेलम युद्ध को एक स्वर से निर्णीत माना है और यह कहा है कि सिकन्दर विजयी एवं पुरु पराजित हुआ। इस प्रकार के मन्तव्य के विपरीत भारत में सिकन्दर के पराभूत होने के बारे में 1937 ई. में एक लेख छपा।[1] इलाहाबाद में हुई भारतीय इतिहास कांग्रेस के द्वितीय अधिवेश में हरिश्चन्द्र सेठ ने पहली बार झेलम-युद्ध में पुरु के हारने की बात को अमान्य करते हुए उसके विजयी होने की सम्भावना व्यक्त की और बाद में 'सिकन्दर की पराजय' शीर्षक लेख एक पुस्तक में लिखा।[2] किन्तु

* सदस्य, भारतीय समाज विज्ञान अनुसंधान परिषद एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, कला इतिहास एवं पर्यटन प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

1. इण्डियन रिव्यू, जून 1937, 'वाज अलेक्जाण्डर राउटेड इन इण्डिया'
2. द्रष्टव्य, प्रोसीडिंग्स ऑफ सेकण्ड इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, इलाहाबाद, 1938, पृ. 84-91, 'वाज पोरस दि विक्टर ऑफ दि बैटिल ऑफ झेलम', एवं सेठजी की पुस्तक चंद्रगुप्त मौर्य और सिकन्दर की भारत में पराजय)

सेठ जी के मत की आलोचनाएँ ही हुईं,[3] यद्यपि कभी-कभी पत्र-पत्रिकाओं में सेठ जी के मत को मानने वाले लोगों के निबन्ध भी देखने को मिलते हैं। एस. चट्टोपाध्याय ने झेलम-युद्ध को अनिर्णीत कहा है।[4] बलराम श्रीवास्तव[5] ने भी झेलम-युद्ध के अनिर्णीतावस्था की ओर संकेत किया है[6] किन्तु उन्होंने श्री सेठ के मत को भावुकतापूर्ण माना है।[7] प्रस्तुत अध्ययन में श्री सेठ के मत की पुनर्परीक्षा की गई है और दुराग्रह का त्याग करते हुए यूनानी इतिहासकारों द्वारा प्रस्तुत किए गए जटिल विवरणों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

सिकन्दर का इतिहास लिखने वाले प्रमुख 5 इतिहासकार हैं जो ईसा पूर्व की पहली शती से लेकर चौथी शती ईस्वी तक के हैं। सटीक वर्ष-गणना की दृष्टि से देखा जाय तो सिकन्दर के भारत से लौटने की तिथि जून 323 ई.पू. एवं प्राचीनतम इतिहासकार डायोडोरस (60-30 ई.पू.) के अन्तराल का समय लगभग 263 वर्ष होता है। इन इतिहासकारों को यत्किंचित मूल आधार सामग्री, यथा सिकन्दर द्वारा लिखे गए कुछ पत्र एवं सिकन्दर के साथ के योद्धाओं के कुछ लेखन, जो किन्हीं अन्य लेखकों की कृतियों में उद्धरण के रूप में थे, उपयोगार्थ मिले थे। स्पष्ट ही सिकन्दरी इतिहास की पुनर्रचना हेतु प्रामाणिक आधारभूत मूल सामग्री अप्राप्त थी। सिकन्दर का समकालीन इतिहास तो है ही नहीं। जो प्राप्त है उसकी पूर्ण प्रामाणिकता विश्वसनीय नहीं है। सन्दर्भित इतिहासकारों के मूल लेखन का अध्ययन एवं अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत करने वाले जे.डब्ल्यू. मैक्क्रिण्डल ने फ्रीमैन का, उनकी पुस्तक हिस्टारिकल एसेज से, ऐसा ही मत उद्धृत किया है[8] -

> "Of the life of Alexander we have five consecutive narratives, besides numerous allusions and fragments scattered up and down various Greek and Latin writers... Unluckily, among all the five there is not a single contemporary chronicler ..... The value of all, it is clear, must depend upon the faithfulness with which they represent the earlier writings which they had before them, and upon the amount of critical power which they may have brought to bear upon their examination. Unluckily again, among all the five, one only has any claim to the name of a critic. Arrian alone seems to have had at once the will and the power to exercise a discreet judgment upon the statements of those who went before him. Diodoros we believe to be perfectly honest, but he is, at the same

3. द्रष्टव्य, प्राचीन भारत का इतिहास, डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, वाराणसी, पृ. 97, पाद टिप्पणी 3
4. द्रष्टव्य, इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, भाग 25, अंक 3, पृ. 201
5. सिकन्दर का आक्रमण और पश्चिमोत्तर भारत, वाराणसी, संवत् 2013
6. वही, पृ. 68
7. वही, पृ. 66
8. Freeman, *Historical Essays,* 2d series, third edition, pp. 183-184, quoted in J.W. M'crindle, *The Invasion of India by Alexander the Great, Westminter, 1896* (आगे सन्दर्भित 'इनवेजन'), p. 2

time, impenetrably stupid. Plutarch, as he himself tells us, does not write history, but lives; his object is rather to gather anecdotes, to point a moral, than to give a formal narrative of political and military events. Justin is a feeble and careless epitomizer. Quintus Curtius is, in our eyes, little better than a romance writer; he is the only one of the five whom we should suspect of any wilful departure from the truth."

सन्दर्भित इतिहास के मूल दस्तावेजों में सिकन्दर के लिखे गए पत्रों से बढ़ कर और दूसरा प्रमाण क्या माना जा सकता है जो मूलतः तो नहीं प्राप्त हैं परन्तु अन्यान्य लेखकों द्वारा उल्लिखित हैं। इन सन्दर्भों की प्रामाणिकता के अतिसंदिग्ध होने की बात सैण्टीक्रॉइक्स एवं फ्रीमैन ने स्पष्टतः कहा है-

"Sainte-Croix and Professor Freeman both expres strong doubts of the authenticity of Alexander's letters quoted by several writers."

(जे.डब्ल्यू. मैक्क्रिण्डल, इनवेजन, इण्ट्रोडक्शन, पृ. 13, टिप्पणी 2)

स्पष्ट ही यूनानी इतिहासकारों के समस्त तथ्यों को एकरस विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। इसके लिए दो-एक उदाहरण पर्याप्त होंगे जब कि उदाहरण अनेकानेक हैं।

पहला उदाहरण यह कि वसातियों (ओसादिओइ) का सिकन्दर को आत्म-समर्पण कई यूनानी इतिहासकारों ने नहीं माना है, क्योंकि इस घटना का विवरण उस समय दिया गया है जब सिकन्दर अपने लौटने की राह में वसातियों के क्षेत्र से बहुत आगे जा चुका था।[9]

दूसरा उदाहरण मालवों (मल्लियन) के गढ़ में सिकन्दर को जानलेवा भयंकर वार से घायल होने से सम्बन्धित है। कुछ इतिहासकार इस घटना को अंजाम देने वाले को मालव मानते हैं और कुछ क्षुद्रक (ऑक्सिड्रेआइ) मानते हैं। घटना के समय सिकन्दर के साथ कोई था या नहीं इस पर भी मतभेद हैं। एक इतिहासकार टॉलेमी को वहाँ उपस्थित कहता है जबकि टॉलेमी स्वयं अपने को उस स्थान पर अनुपस्थित लिखता है। एर्रियन ने इस घटना की समीक्षा करते हुए अपने को सत्य के अधिक समीप कहा है।[10] अर्थात् वह भी घटना की सत्य स्थिति से दूर ही था।

यद्यपि ये दो उदाहरण पर्याप्त हैं किन्तु एक तीसरा यह कि, पेरिप्लस के अनाम लेखक ने सिकन्दर को गंगा तक गया हुआ कहा है[11] जबकि ऐसा किसी इतिहासकार ने नहीं लिखा है।

एर्रियन के हस्ति-युद्ध के विवरण[12] में हस्ति-युद्ध को यूनानियों के लिए नये ढंग का अनुभव कहा गया

9. इनवेजन, पृ. 156, पाद टिप्पणी 2
10. एर्रियन, 6.11, इनवेजन, पृ. 149-15
11. डब्ल्यू. एफ. स्कॉफ सम्पादित, पेरिप्लस, लन्दन, 1912, पैरा 47, पृ. 41
12. एर्रियन, 6.17, इनवेजन, पृ. 105-06

है। युद्ध के आरम्भ में पुरु के हाथी बीस पड़ रहे थे।[13] डायोडोरस ने इसका विशेष वर्णन किया है।[14] वर्णन में आगे चल कर यूनानियों के अधिक कुशल सैनिकों का गुणगान किया गया है[15] और उनके द्वारा हाथियों पर किए गए घातों का जिक्र किया गया है जिसके फलस्वरूप हाथी भड़के थे।[16] यूनानियों ने इस वर्णन में चतुराई यह दिखलाई है कि मानो सिकन्दर की सेना में कोई हाथी नहीं था। भारत में आरम्भिक इतिहास को साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से लिखने वाले विंसेण्ट ए. स्मिथ ने हाथियों के साथ पुरु के सैन्य व्यूह का एक रेखाचित्र प्रस्तुत किया है और उसके सामने सिकन्दरी सेना का भी, जिसमें हाथी नहीं दिखाए गए हैं।[17] कुछ प्रमाण यहाँ प्रस्तुत हैं कि सिकन्दर की सेना में हाथी थे और उसके लिए उसकी ललक हमेशा रही। पोरस से हुए इस झेलम-युद्ध के पहले ही सिकन्दर को सिन्धु पार करते अफ्रिकीज से 15 हाथी मिले[18] और 25 हाथियों की भेंट आम्भि से प्राप्त हुई थी,[19] ओरा के सभी हाथियों को उसने अधिकृत किया था,[20] अर्णास के हाथियों को खोजवा कर उन्हें अपनी सेना का अङ्ग बनाया।[21]

सिकन्दर को आम्भि की ओर से 30 हाथी उसके सिन्धु-तट पर पहुँचने के समय ही अगवानी करते हुए दिए गए थे।[22] बाद में आम्भि की ओर से ही 56 हाथियों की भेंट दी गई थी।[23] सिकन्दर जब झेलम के दाहिने किनारे पर नदी पार करने की योजना में था उस समय अराकोशिया में विद्रोह करने वाला हथकड़ी से बँधा बर्जएण्टीज पकड़े गए 30 हाथियों के साथ लाया गया था। हाथियों की प्राप्ति 'सैनिक दृष्टि से स्वागत योग्य' इस बात का उल्लेख करते हुए कही गई कि हाथी भारतीय सैन्य शक्ति के प्रमुख आधार हैं।[24] सिकन्दर के पास हाथियों की कुल संख्या जोड़ ली जाय (15+25+30+56) तो 126 हाथी और अर्णास तथा ओरा के हाथी ऊपर से थे। पुरु के हाथियों की संख्या झेलम-तट पर 200 कही गई है[25] और एक लेखक ने तो 130 हाथी पोरस के गिनाए हैं।[26] स्पष्ट ही

13. वही
14. डायोडोरस, 17.88, इनवेजन, पृ. 275
15. एर्रियन, 6.17, इनवेजन, पृ. 106
16. वही, कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 208
17. दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, आक्सफोर्ड, 1904, पृ. 60 के सामने का रेखाचित्र
18. डायोडोरस, 17.86, इनवेजन, पृ. 272
19. एर्रियन, 4.12, इनवेजन, पृ. 59
20. वही, 4.27, इनवेजन, पृ. 70
21. वही, 4.30, इनवेजन, पृ. 77
22. वही, 6.3, इनवेजन, पृ. 83
23. वही, 6.12, इनवेजन, पृ. 202
24. वही, 6.13, इनवेजन, पृ. 203
25. वही, 5.15, इनवेजन, 102
26. डायोडोरस, 17.87, इनवेजन, पृ. 274

दोनों प्रतिद्वन्द्वियों के हाथियों की संख्या लगभग समतुल्य थी। कर्टियस ने तो झेलम के तट पर पुरु के केवल 85 हाथी ही कहे हैं।[27]

पुरु से युद्ध के बाद रण-क्षेत्र के बचे हाथी सिकन्दर ने अपनी सेना में मिला लिए थे[28] जिनकी संख्या डायडोरस के आधार पर 80 थी।[29] बाद के समय में सिकन्दर ने अनेक स्थानों पर हाथी अपनी सेना में लिए - अभिसार से 40 हाथी, चेनाब पार करते समय गलौसाइयों से हाथियाँ लेने के लिए कोइनस को कहा, पुरु से हाथी मँगाए जो सांगल के युद्ध के समय आए (हाथियों की संख्या नहीं बताई गई है), अभिसार से 40 हाथी, मुसिकों और शम्भुओं ने अपने सभी हाथी दिए थे,[30] (हाथियों की संख्या नहीं बताई गई है) प्रस्थों के हाथी न देने पर सिकन्दर की रंज का वर्णन है जो हाथियों के प्रति सिकन्दर की चाह को संकेतित करती है। वापसी के समय सिकन्दर के पास 200 हाथी कहे गए हैं,[31] मेसिडोनिया जाने वाले अपने लोगों के साथ भी उसने अलग से हाथी भेजे थे।[32]

सिकन्दर के लिए पुरु एक चुनौती था। देश की रक्षा की उत्कट भावना के साथ निश्चित ही उसकी सैन्य-शक्ति प्रबल थी, कम से कम वैसी जिसे सिकन्दर अपने समकक्ष अनुमानित कर सकता था। पुरु की सेना का दबदबा सिकन्दरी सेना पर झेलम के पश्चिमी तट के शिविरों में ही जम चुका था जब यूनानी सैनिकों का दिल दहल गया था।[33] सिकन्दर की अश्वारोही सेना को हाथियों का डर सर्वाधिक था।[34]

सिकन्दर ने झेलम को सीधे पार करके पुरु से युद्ध मोल लेने से अच्छा समझा कि झेलम को दूसरी जगह पार करे। अतः लुके-छिपे उसने अपनी एक टुकड़ी के साथ शिविर से 150 स्टेडिया (लगभग 17 मील) उत्तर जाकर झेलम पार किया। एर्रियन ने सिकन्दर के इस कृत्य को 'मार्ग चुराने' की संज्ञा दी है (He resolved therefore to steal the passage[35])। इस सफलता से सिकन्दर की सेना में ढाढस बँधा होगा कि वह पार उतरते ही पुरु की सेना द्वारा रौंदी न जा सकेगी परन्तु पुरु के पुत्र ने सिकन्दर को इस स्थान पर रोका। दोनों पक्षों के लिए इस युद्ध की कठिनता का अनुमान इतने से ही किया जा सकता है कि पौरव-सेना लगभग सारी की सरी काम आई

27. कर्टियस, 8.13, इनवेजन, पृ. 204
28. एर्रियन, 5.18, इनवेजन, पृ. 107
29. इनवेजन, पृ. 107, टिप्पणी।
30. एर्रियन, 5.20, इनवेजन, पृ. 112, 5.21, पृ. 112-13 एवं 5.24, पृ. 119, 5.29, पृ. 129, 6.15, पृ. 158, 159
31. एर्रियन, 6.2, इनवेजन, पृ. 133
32. एर्रियन, 6.17, इनवेजन, पृ. 161
33. कर्टियस, 8.13, इनवेजन, पृ. 204
34. एर्रियन, 5.10, इनवेजन, पृ. 95-96 एवं 5.11, पृ. 98
35. वही, पृ. 97

और सिकन्दर पर इतने और इतने जबरदस्त वार हुए कि उसका घोड़ा बुखफेला मारा गया और सिकन्दर को भारी चोट आयी।[36]

इस टक्कर के बाद सिकन्दर को पुरु से जूझना था। सिकन्दर और पुरु की युद्ध-भेंट में सिकन्दर का हौसला पस्त था (I see at last a danger that matches my courage. It is at once with wild beasts and men of uncommon mettle that the contest now lies.[37]) दिन के तीसरे पहर तक के युद्ध का विवरण पुरु के पक्ष में प्राप्त होता है, स्थिति यह थी कि दिन के लगभग बीतने के समय तक यूनानी सैनिक कभी बढ़ते तो कभी भागते (Thus the battle was doubtful, the Macedonians sometimes pursuing and sometimes fleeing from the elephants, so that the struggle was prolonged till the day was far spent.[38])। यूनानी स्रोतों से युद्ध में विजय-श्री सिकन्दर को प्राप्त होती है। परन्तु दिन के तीसरे पहर के बाद यह स्थिति कैसे आ गई, इस बात पर सारे यूनानी इतिहासकार मौन हैं।

पुरु की हार के कारण में यूनानी इतिहासकारों ने दो तथ्यों का संकेत किया है- वर्षा के कारण रथ एवं पदाति सेना की निष्क्रियता एवं पौरव सेना के हाथियों की भगदड़।

युद्ध के पूर्व की वर्षा पुरु की हार के मुख्य कारणों में से एक कही गई जिसके फलस्वरूप पुरु के घोड़े, रथ और पदाति सेना का उपयोग उचित रूप से न हो सका। परन्तु यह कारण सही तब मान लिया जाये जब सिकन्दर की सेना के घोड़ों, रथों और पदातियों को इस प्रकृति प्रकोप से मुक्त माना जाय। इसमें शक नहीं कि सिकन्दर की सेना मुख्यतः घुड़सवार सेना थी, किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि उसकी सेना रथों एवं पदातियों से भी सज्जित थी। सिकन्दर को नीसा से और तक्षशिला से क्रमशः 300 एवं 700 अश्वारोहियों की प्राप्ति का उल्लेख मिलता है[39] और तक्षशिला का आम्भि तो अपनी 5000 सैनिक की सैन्य-टुकड़ी[40] के साथ सिकन्दर की ओर से लड़ ही रहा था।[41] अर्फिकीज़ के 20000 सैनिक भी सिकन्दर की सेना में थे।[42] इन प्राप्तियों के अतिरिक्त, तक्षशिला में विश्राम के उपरान्त झेलम के लिए चलने से पहले सिकन्दर ने अपनी सेना में सैनिकों की भर्तियाँ की थीं।[43] कर्टियस ने पुरु की सेना में विशेष रूप से ताल-धनुष चलाने वाले धनुर्धर-सैनिकों का उल्लेख किया है जो अपने धनुष का

36. एर्रियन, 5.14, इनवेजन, पृ. 101
37. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 209
38. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 211
39. एर्रियन, 5.2, इनवेजन, पृ. 81 एवं वही, 5.3, इनवेजन, पृ. 83
40. वही, 5.8, इनवेजन, पृ. 93
41. डायोडोरस, 17.81, इनवेजन, पृ. 274
42. वही, 17.86, इनवेजन, पृ. 272
43. वही, 17.87, पृ. 274

एक सिरा जमीन पर टिका कर सशक्त लक्ष्य साधने वाले थे और वर्षा के कारण गीली हुई भूमि पर धनुष का एक सिरा जमीन पर दृढ़ रूप से न टिका सके थे।[44] ऐसे धनुर्धर सिकन्दर के भारतीय सैनिकों की सैन्य टुकड़ी वाली सेना में नहीं रहे होंगे, यह मानना असम्भव है। इस प्रकार दुर्दैव के कारण ताल-धनु-धारियों का कौशल खण्डित होने की स्थिति पुरु और सिकन्दर दोनों के पक्षों को समान रूप से झेलना पड़ा होगा, केवल पुरु के पक्ष को नहीं। वर्षा का प्रभाव घोड़ों पर एवं रथों के भारी-भरकम होने के कारण कीचड़ में फँसने से गतिहीन होने की बात पुरु-पुत्र से युद्ध के सन्दर्भ में कही गई है।[45] पुरु से युद्ध में अश्वाराहियों के वर्षा वा कीचड़ से प्रभावित होने का उल्लेख किसी इतिहासकार ने नहीं किया है, हाँ कर्टियस ने पुरु-पुत्र वा हेग से युद्ध में इसका उल्लेख किया है (unfit for horse to ride over...chariots kept sticking[46])। कर्टियस द्वारा पुरु से मुख्य-युद्ध में इस विपरीत स्थिति का उल्लेख न किया जाना और रथों के बारे में भी मौन रहना इस बात की ओर ध्यान खींचता है कि ताल-धनुर्धर के सन्दर्भ में उसका यह कथन कि गीली-फिसलनी भूमि के कारण धनुर्धरों का धनुष सही ढंग से स्थिर न हो सका और वे तीरों की बौछार न कर सके (barbarians were besides unable to use even their arrows. Thease weapons were really so long and heavy that the archers could not readily adjust them on the string unless by first resting their bow upon the ground. Then, as the ground was slippery and hindered their efforts[47]) यह कहना कथमपि उचित नही है। वर्षा के कारण घोड़ो की निष्क्रियता तो दोनों पक्षों पर निस्सन्देह समान ही रही होगी। वर्षा के यूनानी विवरणों की थोड़ी और विवेचना जरूरी है। डायोडोरस एवं जस्टिन ने वर्षा की चर्चा नहीं की है और न ही पुरु-पुत्र से युद्ध का। प्लूटार्क ने वर्षा को झेलम मे उन दिनों की बाढ़ का कारण बताया है (The Hydaspes was now flooded by the rains[48]) और (रात मे) झेलम पार करते समय वर्षा मे सिकन्दर के कुछ सैनिकों के बिजली की मार से मृत्यु कहता है (some of his men struck dead with the lightning[49]), किन्तु युद्ध के दिन में वर्षा और उसके कारण रथों व ताल-धनुर्धरों पर असर का कोई उल्लेख नही है। कर्टियस ने रात मे ही मौसम की खराबी का सन्दर्भ दिया है जो सिकन्दर के अभियान के आरम्भ मे कठिनाई दी किन्तु बाद मे मौसम ठीक रहा (The state of the weather at first hindered, but afterwards favoured[50])। यहाँ हेग से युद्ध मे वर्षा के कारण हुए कीचड़ व फिसलन का उल्लेख आया है। एर्रियन उस रात की भारी वर्षा का उल्लेख करता है (During the night a violent storm of

44. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 210
45. एर्रियन, 6.15, इनवेजन, पृ. 102, कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 208
46. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 208
47. वही, 8.14, इनवेजन, पृ. 210
48. प्लूटार्क, 60, इनवेजन, पृ. 307
49. वही
50. कर्टियस, 8.13, इनवेजन, पृ. 206

rain came on[51]) किन्तु प्रातःकाल तक वायु और वर्षा के प्रकोप के शान्त हो जाने की बात कही है (Towards daybreak the wind had died down and the rain ceased.[52]) साथ ही पुरु-पुत्र से हुए प्रात-युद्ध में कीचड़ व फिसलन का कोई सन्दर्भ नहीं दिया है। इस युद्ध में कर्टियस को छोड़ किसी ने रात की वर्षा से कीचड़ व फिसलन के प्रभाव की चर्चा नहीं की है। हेग के सभी रथ भारी होने एवं कीचड़ में फँसने के कारण हिल-डुल न सके (chariots kept sticking in the muddy sloughs formed by the rain, and proved almost immovable formtheir great weight.[53]) यह कथन अपने आप में कितना झूठा है, भली प्रकार समझा जा सकता है, आखिर वे भारी रथ उस गीली-फिसलनी मिट्टी से होकर 17 मील दूर से वहाँ कैसे पहुँच पाए थे। पुरु से हुए मुख्य-युद्ध में भी ताल-धनुर्धारियों पर इसका असर केवल कर्टियस ने ही कहा है।[54] इस प्रकार चार इतिहासकार इस कारण को प्रमुखता नहीं देते। पुरु-पुत्र वा हेग से हुए युद्ध में रथों के वर्षा से अप्रासंगिक होने के कारण नष्ट होने[55] अथवा कब्जे में लिए जाने[56] का उल्लेख यूनानी इतिहासकारों ने दिया है किन्तु ध्यान देने की बात है कि मुख्य-युद्ध में रथों की संख्या 300[57] व 1000[58] गिनाने के अतिरिक्त उन पर फिसलन व कीचड़ वाली भूमि के असर के सम्बन्ध में कहीं कोई विवरण नहीं है। पुरु से हुए मुख्य-युद्ध के 8 घण्टे व युद्धारम्भ से लगभग सन्ध्या की अवधि में वर्षा होने का भी कोई विवरण नहीं है। इस स्थिति में वर्षा के कारण गीली-फिसलनी धरती को केवल पुरु की सेना के लिये अनुपयुक्त कह कर पुरु की हार निश्चित करने के लिये स्थिति उत्पन्न करने का प्रयास केवल यूनानी चाल भर है, जिसे सत्य मानना भ्रम है। युद्ध-भूमि को वर्षाकाल में भी युद्ध के उपयुक्त यूनानियों द्वारा ही कहा गया है। पुरु का सैन्य व्यूह उस भूमि पर था जहाँ कीचड़ नहीं था ज़मीन बलुई चौरस और काफी कड़ी (firm = able to stay the same shape when pressed, quite hard[59]) सैन्य-संचरण के योग्य थी (No clay, but that the ground from its sandy nature was all flat and firm and suited for the movements of cavalry.[60])। प्रातः काल में पुरु-पुत्र से और फिर दिन में पुरु से लगभग सायं तक के भीषण युद्ध में वर्षा से बाधा नहीं पड़ी।

51. एर्रियन, 5.12, इनवेजन, पृ. 98
52. वही, 5.12, इनवेजन, पृ. 99
53. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 208
54. वही, 8.14, इनवेजन, पृ. 206
55. एर्रियन, 6.15, इनवेजन, पृ. 101, कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 208
56. प्लूटार्क, 60, इनवेजन, पृ. 308
57. एर्रियन, 6.15, इनवेजन, पृ. 107
58. डायोडोरस, 17.87, इनवेजन, पृ. 274
59. Oxford English-English-Hindi Dictionary, Oxford University Press, 29th Impression, 2013, p. 448
60. एर्रियन, 5.15, इनवेजन, पृ. 103

इस प्रकार प्रकृति-प्रकोप की बात थोथी हो जाती है। कर्टियस द्वारा पुरु से मुख्य-युद्ध में इस विपरीत स्थिति का उल्लेख न किया जाना और रथों के बारे में भी मौन रहना इस बात की ओर ध्यान खींचता है कि सम्भवतः सिकन्दर के झेलम पार करने के स्थान से 150 स्टेडिया (लगभग 17 मील) दूर मुख्य-युद्ध-स्थल तक आने में जो समय लगा उसमें मौसम साफ हो गया था। उसके अनुसार ताल-धनुर्धर अपनी स्थिति सम्हालने अर्थात तुरंत सन्नद्ध होने में समय लगाए (could not readily adjust[61])। वर्षा के कारण घोड़ों की निष्क्रियता तो दोनों पक्षों पर निस्सन्देह समान ही रही होगी। वर्षा के कारण गीली-फिसलनी धरती को केवल पुरु की सेना के लिये अनुपयुक्त कह कर पुरु की हार निश्चित करने के लिये स्थिति उत्पन्न करने का प्रयास केवल यूनानी चाल भर है, जिसे सत्य मानना भ्रम है। युद्ध-भूमि को वर्षाकाल में भी युद्ध के उपयुक्त यूनानियों द्वारा ही कहा गया है। पुरु का सैन्य व्यूह उस भूमि पर था जहाँ कीचड़ नहीं था जमीन बलुई चौरस और काफी कड़ी सैन्य-संचरण के योग्य थी जैसा कि ऊपर विवरण दिया गया है। प्रातः काल में पुरु-पुत्र से और फिर दिन में पुरु से भीषण युद्ध में वर्षा से बाधा नहीं पड़ी। इस प्रकार प्रकृति-प्रकोप की बात थी ही नहीं।

हाथियों की भगदड़ की आड़ में यूनानी लेखकों ने बहुत पक्षपात किया है। युद्ध के लिये प्रशिक्षित हाथियों की ऐसी भगदड़ की कल्पना नहीं होती और यदि यह भगदड़ कुछ हद तक हुई भी हो तो यह स्वीकार करना उचित नहीं कि उससे केवल पुरु सेना पिस गई। एर्रियन द्वारा लिखे गए जिस विशेष विवरण पर इतिहासकार अपनी बात करते हैं, वे पक्षपात पूर्वक एर्रियन की उस बात को नजर-अन्दाज करते हैं कि उसने युद्धकारी दोनों पक्षों की हानि का सम्यक उल्लेख किया है-The elephants did NO LESS DAMAGE to their FRIENDS than to their FOES.[62] विंसेण्ट ए. स्मिथ ने अपनी पहली पुस्तक (अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 1904, पृ. 61) में इस कथन का उल्लेख किया किन्तु इसकी प्रामाणिकता के लिए एर्रियन के साथ सिकन्दर का भी उल्लेख किया जब कि एर्रियन ने अपना विवरण सिकन्दर के हवाले से नहीं लिखा है, किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि स्मिथ ने अपनी दूसरी पुस्तक (ऑक्सफार्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, 1919, पृ. 64) में 'did NO LESS DAMAGE' की जगह पर 'did MORE DAMAGE' अपनी ओर से बना दिया। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि प्रशिक्षित हाथियों के हैरत-अंगेज कारनामों का दृश्यात्मक वर्णन यूनानियों ने दिया हुआ है और पुरु के हाथी के अपने पालक के प्रति किए गए कृत्यों की भूरिशः प्रशंसा की है-

Upon this the elephants, applying to good use their prodigious size and strength, killed some of the enemy by trampling them under their feet, and crushing their armour and their bones, while upon others they inflicted a terrible death, for they first lifted them aloft with their trunks, which they had twined round their bodies, and then dashed them down with

61. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 210

62. एर्रियन, 5.17, इनवेजन, पृ. 106

great violence to the ground. Many others they deprived in a moment of life by goring them through and through with their tusks. (डायोडोरस, 17.88, इनवेजन, पृ. 275)

The most dismal of all sights was when the elephants would, with their trunks, grasp the men, arms and all, and hoisting them above their heads, deliver them over into the hands of their drives. (कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 212)

The Indian driver, thinking the king wished to alight, made the elephant kneel down in the usual manner. On seeing this the other elephants also knelt down, for they had been trained to lower themselves when the royal elephant did so.

When the elephant turned upon them in defence of its master, and lifting him up placed him once more on its back. (कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 213)

This elephant showed wonderful sagacity and care for its royal master, for while it was still vigorous it defended him against his assailants and repulsed them, but when it perceived that he was ready to sink from the number of his wounds and bruises, fearing that he might fall off its back, it gently lowered itself to the ground, and as it knelt quietly extracted the darts from his body with its trunk. (प्लूटार्क, 60, इनवेजन, पृ. 308)

सेना के लिए सिकन्दर की हाथियों की ललक की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। ऐसी स्थिति में सिकन्दर द्वारा हस्ति-सेना के विषय में व्यंग्य करते हुए खामियाँ बताकर[63] पुरु के हाथियों से भयभीत हुए और मगध के 3000 हाथियों की जानकारी से दहले हुए युद्ध की अनिच्छा व्यक्त कर अपने देश वापस जाने पर आमादा सैनिकों को बरगलाया नहीं जा सका था।[64]

पुरु के हाथियों की तथाकथित भगदड़ को सन्दर्भ में लेते हुए यूनानी लेखक कर्टियस ने सिकन्दर के मुख से व्यंगात्मक ढंग से हस्ति-सेना की भर्त्सना लिखा है जो सर्वथा अनुचित है-

"Can you suppose that the herds of elephants are greater than of other cattle when the animal is known to be rare, hard to be caught, and harder still to tame?

I ask, the monstrous size of the elephants or the number of the enemy that you dread?

As for the elephants, we had an example of them before our eyes in the late battle when they charged more furiously upon their own ranks than upon ours, and when their vast bodies were cut and mangled by our bills and axes. What matters it then whether they be the

63. वही, 6.2, इनवेजन, पृ. 224

64. वही, 6.3, इनवेजन, पृ. 230, एर्रियन, 5.28, इनवेजन, पृ. 128, डायोडोरस, 17.94, इनवेजन, पृ. 283, प्लूटार्क, 62, इनवेजन, पृ. 310, जस्टिन, 12.8, इनवेजन, पृ. 323

same number as Porus had, or be 3000, when we see that if one or two of them be wounded, the rest swerve aside and take to flight. Then again, if it be no easy task to manage but a few of them, surely when so many thousands of them are crowded together, they cannot but hamper each other when their huge unwieldy bodies want room either to stand or run. For myself, I have such a poor opinion of the animals that, though I had them, I did not bring them into the field, being fully convinced they occasion more danger to their own side than to the enemy. (कर्टियस, 9.2, इनवेजन, पृ. 223-224)

पुरु के हाथियों के व्यूह में 100 फीट[65] व 150 फीट[66] की समान रूप से दूरी कही गई है (elephants...at equi-distances)।[67] इन बीच की जगहों में हाथियों पर होने वाले वार को रोकने वाले सैनिकों का दल था-

In the intervals between the animals he stationed the rest of his soldiers, instructing them to succour the elephants and protect them from being assailed in flank by the enemy's missiles.[68]

आठ घण्टे लगातार युद्ध[69] में सन्ध्या होने के निकट तक सिकन्दर की सेना को कोई सफलता नहीं मिली थी[70]-

Thus the battle was doubtful, the Macedonians sometimes pursuing and sometimes fleeing from the elephants, so that the struggle was prolonged till the day was far spent.

सिकन्दर के व्यास-तट पर कहे गए व्यंगात्मक कथन से ऐसा स्पष्ट आभास होता है कि 'एक' अथवा 'दो' हाथियों को ही चोट पहुँचाई जा सकती थी[71]-

What matters it then whether they be the same number as Porus had, or be 3000, when we see that if one or two of them be wounded, the rest swerve aside and take to flight.

इन एक-दो हाथियों के भड़कने के आधार पर सिकन्दर की विजय-गाथा कल्पित की गई। सिकन्दर के मुख से यह भी कि उसे हाथियों पर भरोसा नहीं और इस कारण वह अपने युद्धों में हाथियाँ नहीं लाता और उसने अपनी इस भावना का आधार झेलम-युद्ध के अनुभव को बताया है-

65. एर्रियन, 5.15, इनवेजन, पृ. 113
66. पाल्यैनॉस, ऑन दि स्ट्रैटेजेम ऑफ वार, 9.22, इनवेजन, एपेंडिसेज नोट- के, पृ. 345
67. एर्रियन, 5.16, इनवेजन, पृ. 104
68. डायोडोरस, 17.87, इनवेजन, पृ. 274
69. प्लूटार्क, 60, इनवेजन, पृ. 308
70. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 211
71. एर्रियन, 6.2, इनवेजन, पृ. 224

For myself, I have such a poor opinion of the animals that, though I had them, I did not bring them into the field, being fully convinced they occasion more danger to their own side than to the enemy.[72]

सिकन्दर की सेना में हाथी भी थे और उसे हाथियों की ललक भी थी। पुरु से युद्ध के समय यदि उसने हाथियों को युद्ध के अयोग्य समझा था तो सांगल के युद्ध के पूर्व सिकन्दर ने पुरु को अपने शेष हाथियों को लाने के लिए क्यों भेजा।[73] द्रष्टव्य यह भी है कि सांगल-युद्ध के अवसर पर हाथियों के साथ सैनिक-दल लेकर पुरु के पहुँचने का विशेष उल्लेख किया गया है। सिकन्दर का कृत्य और व्यास-तट पर भाषण एक दूसरे के विपरीत हैं।[74]

हाथियों के महत्त्व एवं युद्ध कौशल की सराहना सर्वत्र की गई है। हाथी युद्ध के लिए प्रशिक्षित होते थे। अत्यन्त घायलावस्था में भी पुरु के हाथी ने अपने शरीर में धँसे भाले-बर्छों को अपनी सूँड़ से निकाले थे (...extracted the darts from his body with its trunk.[75])। भारतीय हाथियों के प्रशिक्षण का उल्लेख यूनानियों ने भी की है (they had been trained[76] elephants trained and equipped for war[77])। सिकन्दर स्वयं हाथियों के महत्व को आँकता था, उसने स्वयं अफ्रीकी एवं आम्भि से (15+25+30+56) कुल 126 हाथी लिये थे। अराकोशिया के 30 हाथी झेलम पार करने के पहले ही आए थे और अर्णास तथा ओरा के हाथी भी थे। पुरु के हाथी, बस कहने के लिए अधिक थे। डायोडोरस की मानें (पुरु के 130 हाथी) तो पुरु की तुलना में सिकन्दर के हाथी ही 20-25 की संख्या में अधिक पड़ेंगे और कर्टियस की मानें (पुरु के 85 हाथी) तो सिकन्दर के ही हाथी अधिक थे।

ऐसा लगता है कि सिकन्दर के सैनिकों द्वारा पीड़ित किये गये पुरु के हाथी अपनी सेना को नहीं, बल्कि सिकन्दर की सेना को मटियामेट कर दिये हों और साथ ही पदाति सेना, रथों और अश्वारोहियों ने सिकन्दरी सेना के छक्के छुड़ाये हों। यूनानी लेखकों द्वारा सिकन्दर की ओर से सन्धि प्रस्तावित किए जाने का उल्लेख[78] उपर्युक्त वास्तविकता को और पुष्ट करता है। सन्धि-प्रस्ताव का मजमून किसी यूनानी लेखक ने नहीं दिया है। किन्तु विश्व-साहित्य के कुछ ग्रन्थ इसी सन्धि के प्रारूप को उपस्थित करते हैं-

ई.ए. डब्ल्यू. बज़ के इथियोपिया के प्रमाणों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि पुरु 20 दिनों तक युद्ध करता रहा और सिकन्दर के बहुत सारे घोड़े मारे गए और इससे यूनानी सेना में इतना शोक छा गया कि सैनिक

72. कर्टियस, 9.2, इनवेजन, पृ. 224
73. एर्रियन, 5.21, इनवेजन, पृ. 113-114
74. एर्रियन, 5.24, इनवेजन, पृ. 119
75. प्लूटार्क, 60, इनवेजन, पृ. 308
76. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 213
77. डायोडोरस, 17.87, इनवेजन, पृ. 282
78. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 212

फफक-फफक कर रोने लगे एवं शस्त्र फेंक देना चाहते थे। जब सिकन्दर ने ऐसी स्थिति देखी तो युद्ध बन्द कर देना चाहा। उसने ऊँचे स्वर में कहा-

'हे पुरुराज! भारत के नृपति मैं आपके शौर्य को देख रहा हूँ तथा उसकी गरिमा की अनुभूति भी कर रहा हूँ। उसे देखकर मेरा दिल दहल गया। साथ ही मैं अपनी मुसीबतों और बरबादियों पर भी विचार कर रहा हूँ, इन सब को देखते हुए मैं सोचता हूँ कि अधिक से अधिक इन मुसीबतों में पड़कर मैं अपनी जान गँवा सकता हूँ, किन्तु मेरे जैसे राजा के लिये यह उचित नहीं कि वह आपसे लड़कर अपने सिपाहियों के प्राण खतरे में डाले।'[79]

इस इथियोपिक पाठ की तिथि की अनिश्चतता के कारण विद्वानों ने इसे प्रामाणिक नहीं माना है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि लोकप्रचलित कथाओं में कभी-कभी वास्तविक तथ्य सुरक्षित मिलते हैं, जिनका वर्णन प्रामाणिक ग्रन्थों में भिन्न प्राप्त होता है।

सिकन्दर सम्बन्धी कई रोचक कथाओं का विवरण इथियोपिया में प्राप्त होता है।

सिकन्दर द्वारा प्रस्तावित सन्धि का एक प्रारूप 977-1010 ई. में रचे गए अब्दुल क़ासिम फिरदौसी के शाहनामे में भी प्राप्त हुआ है-

सिकन्दर बद-उ गुफ्त क-ए नामदार,
दो लश्कर शाकिस्ता शुद अज करेजार।
हमीं दामों-दद मग्जे मर्दुम खुरद,
हमीं नाल-ए-अस्प इस्तख्वां बस्पुरद।
दो मरदेम हर दो दिलेर-ओ जवाँ,
सुखनगो व बा-मग्जे दो पहलवाँ।
चरा बहर ए-लश्कर हमीं कुश्तन्-अस्त,
बगर जिन्दाह अज-रज्म वर गश्तन् अस्त।[80]

(सिकन्दर ने कहा, हे यशस्वी पुरुष! हम दोनों की सेनायें युद्ध से ध्वस्त हो चली हैं, वन्य पशु मनुष्यों के मस्तिष्क खा रहे हैं और घोड़ों की नालों से उनकी हड्डियाँ जर्जरित हो रही हैं, हम दोनों वीर और युवक हैं, बुद्धिमान और मंजुभाषी योद्धा हैं। अतः सेनाओं की हत्या क्यों हो और युद्ध के बाद उन्हें नीरस जीवन क्यों मिले?)[81]

उपर्युक्त विवरणों की सत्यता को अस्वीकार करके सिकन्दर की प्रेषित सन्धि को कूटनीतिक महत्व दिया जाता है कि सिकन्दर ने भारत में आगे बढ़ने के लिए यह चाल अपनायी।

सिकन्दर की ओर से सन्धि-प्रस्ताव का कई बार प्रेषण, पुरु की स्वीकृति और उसके उपरान्त की बात

79. दि हिस्ट्री ऑफ इलेक्जाण्डर दि ग्रेट, ई.ए. डब्ल्यू. बज का अनुवार, पृ. 123
80. शाहनामा, मैकन सम्पादित, 1829, भाग 3, पृ. 309
81. हिन्दी अनुवाद, बलराम श्रीवास्तव, पूर्वोद्धृत, पृ. 66

को यूनानी लेखकों द्वारा कल्पित घटनाओं के समावेश या वास्तविकता को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करने की ओर संकेत करती हैं।

यूनानी विवरणों के अनुसार सिकन्दर ने यह सन्धि-प्रस्ताव उस समय भेजा था जब कि पुरु रण के मैदान से बाहर जा रहा था।[82] पुरु से सन्धि की बात चलाने का प्रयास इतिहासकार कर्टियस के अनुसार पहले सिकन्दर ने ही किया।[83] किन्तु उसका घोड़ा अत्यन्त घायल होने के कारण बैठ गया तब उसने आम्भि[84] अथवा आम्भि के भाई[85] को सन्धि का सन्देश वाहक बनाया था जिसे पास आता देख पुरु ने बरछे से प्रहार किया था, किन्तु उसके शीघ्रता पूर्वक पीछे हटने[86] अथवा बरछे के हाथ से फिसलने[87] के कारण वार खाली गया। सिकन्दर ने सन्धि-प्रस्ताव कई बार (messenger after messenger[88]) भेजा और अन्त में मिरोस को सफलता मिली।[89] सिकन्दर ने सन्धि-प्रस्ताव की घटना को आधुनिक इतिहासकारों ने यूनानी रजत-पदक के एक अंकन से जोड़ने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम पी. गार्डनर ने पोरस सम्बन्धी सन्दर्भ उद्धृत करते हुए सिक्के का सन्दर्भ बैक्ट्रिया तथा यूचियों से बताया[90] किन्तु बी.वी. हेड ने यद्यपि अपने एक लेखन में पी. गार्डनर को सन्दर्भित किया[91] लेकिन अपने दूसरे लेख में मुद्रा पर अंकित दृश्य को सीधे झेलम-युद्ध से सम्बन्धित किया[92] जिसका बाद में अन्यान्य इतिहासकारों ने मात्र अनुगमन किया है। विंसेण्ट ए. स्मिथ ने तो इसे पोरस मेडल (POROS MEDAL) नाम ही दे डाला दिया।[93] यह मुद्रा प्राप्ति स्थान से न मिलकर फारस के बेबिलोन (वर्तमान इराक में) से मिली है। बेबीलोनिया में सिकन्दर की एक टक्साल थी। यह भी ध्यान देने योग्य है कि फारस के गागमेला युद्ध में दारा तृतीय के निवेदन पर,[94] उसके सहयोग में पुरु के हाथी गए थे, इसका सन्दर्भ फिरदौसी के शाहनामा में सिकन्दर के दूत को दिए गए पुरु के उत्तर के विवरण में मिलता है-

82. एर्रियन, 5.18, इनवेजन, पृ. 108
83. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 212
84. एर्रियन, 5.18, इनवेजन, पृ. 108
85. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 212
86. एर्रियन, 5.18, इनवेजन, पृ. 108
87. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 212
88. एर्रियन, 5.18, इनवेजन, पृ. 108
89. वही, 5.18, इनवेजन, पृ. 108-109
90. *न्यूमिस्मैटिक क्रोनिकिल,* तीसरी सीरीज, भाग 7, 1887, पृ. 178
91. वही, 1906, पृ. 8
92. हिस्टोरिया न्यूमोरम, आक्सफोर्ड, 1911, पृ. 833, *ए गाइड टु दि प्रिंसिपल ग्रीक क्वायंस ऑफ दि ग्रीक्स,* लन्दन, 1932, पृ. 49
93. *ऑक्सफोर्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया,* लन्दन, 1904, पृ. 63
94. दि शाहनामा ऑफ फिरदौसी, अंग्रेजी अनुवाद ऑरथर ज्यॉर्ज वारनर, लन्दन, 1912, पृ. 31

बदान् गह कि दारा मेरा यार ख्वास्त।
दिल-ओ वस्तु वाहो नदीदैम रास्त।।
हमो जि दाह पिलान् फरस्तादमश।
हमोदून बायारि जुबान दीदमश।।

(दारा के सहायता माँगने पर मैंने युद्धार्थ प्रशिक्षित हाथी और उत्साहवर्धक संदेश भेजा।)[95]

इस बात की पूरी-पूरी सम्भावना की जा सकती है कि पदक पर गजारोही और अश्वारोही के युद्ध का जो चित्रण है, उसका सम्बन्ध गागमेला युद्ध से हो।[96] यूनानियों ने गागमेला-अरबेला में ही पहली बार युद्ध में प्रयुक्त हाथी देखा था जो दारा की सेना के मुख्य अंग थे।[97]

सन्देश वाहक भेजे जाने और इसके बाद का प्रसङ्ग एर्रियन और कर्टियस द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में वर्णित है। जहाँ प्रथम के अनुसार सन्देशवाहक आम्भि की असफलता एवं बाद में पुरु की भेंट और पुरु की ओर से पहल कि मुझे सिकन्दर के पास ले चलो[98] तो दूसरे के अनुसार सिकन्दर द्वारा पहल करने के लिए जाने किन्तु घोड़े के बैठ जाने के कारण संदेश वाहक भेजने और मृत समझे पुरु के पास जाने पर घायल पुरु से वार्ता होती है[99]और तीसरे ने तो सीधे पुरु के बन्दी बनाए जाने की बात कही है।[100] यह गढ़न्त विवरण स्पष्ट ही अविश्वसनीय है।

प्रशिक्षित हाथी द्वारा अपने स्वामी की घायल व मूर्छितावस्था में उसे रण-क्षेत्र से बाहर ले जाते समय सिकन्दर ने पुरु को मात्र 'समर्पण करने' का आग्रह तो नहीं भेजा होगा अपने सन्देश-वाहकों के माध्यम से, क्योंकि ऐसा तो सैनिकों द्वारा घेर कर किया जा सकता था। वस्तुतः पुरु की वीरता की ओट में उसकी हार स्थापित करने का वाग्जाल यूनानी इतिहासकारों ने रचा है।

जब पुरु ने सिकन्दर के प्रस्ताव को स्वीकार किया तो 'पोरस! तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया जाय?' जैसे प्रश्न का कोई औचित्य नहीं है। इस सारी कथा को यूनानियों ने बड़े कौशल से प्रस्तुत किया है जो वास्तविकता को छोड़कर सिकन्दर के पक्ष में रखी गई है। सिकन्दर और पुरु का यह कथोपकथन पाँच इतिहासकारों में से तीन

95. शाहनामा, भाग 3, पृ. 130, दि शाहनामा ऑफ फिरदौसी, उपरिउल्लिखित, एवं चिनॉक सम्पादित एर्रियन का एनाबसीस, पृ. 142-143, जॉन क्लार्क रिडपाथ, *यूनिवर्सल हिस्ट्री*, भाग 2, *एंशिएण्ट वर्ल्ड*, न्यू यार्क, प्रथम संस्करण, पृ. 368 तथा आर. घिर्शमन, *ईरान, पेंगुइन बुक्स, लन्दन, 1965, पृ. 212 भी द्रष्टव्य*
96. दीनबन्धु पाण्डेय, दि हाइडैस्पीज-बैटिल कमेमोरेटिव मेडल ऑफ अलेक्जॉण्डर दि ग्रेट - ए फ्रेश एप्रोच, जर्नल ऑफ दि न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी ऑफ इण्डिया, अंक 33, भाग 2, 1971, पृ. 1-7
97. जे.डब्ल्यू. मैक्किण्डल, इनवेजन, पृ. 94, टिप्पणी 2
98. एर्रियन, 5.18, इनवेजन, पृ. 108-109
99. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 213-14
100. प्लूटार्क, 60, इनवेजन, पृ. 308

- एर्रियन, प्लूटार्क एवं कर्टियस- द्वारा अपने-अपने ढंग से कुछ परिवर्तनों के साथ लिखा गया है।[101]

पुरु के उत्तर 'एक राजा की तरह' पर सिकन्दर के प्रसन्न होने और पुरु के सम्मान में उसके राज्य को लौटाने और कुछ अन्य भूभाग भी उसके सुपुर्द करने की बात[102] तो और भी थोथी है। जस्टिन[103] ने उपर्युक्त तीनों इतिहासकारों की बात न मानते हुए केवल पुरु के राज्य के वापस दिए जाने की बात कही है। सिकन्दर का जैसा चरित्र यूनानियों ने प्रस्तुत किया है उसके अनुसार वह किसी को अपने सामने सर उठाये नहीं देख सकता था और यहाँ वह पुरु के आत्माभिमान भरे वाक्य पर प्रसन्न हुआ, ये विरोधी बातें हैं। पुरु के राज्य को लौटाने की स्थिति तो है ही नहीं, ऊपर हम देख चुके हैं कि युद्ध की अनिर्णीतावस्था में ही सन्धि की बात प्रारम्भ हुई थी जिसके फलस्वरूप दोनों का मिलन हुआ, युद्ध जीतने की तो स्थिति ही नहीं आई फिर सिकन्दर पुरु के राज्य का हकदार कहाँ हुआ कि राज्य वापस करे। सिकन्दर तक्षशिला से चलकर सीधे झेलम पहुँचा था। इस बीच कोई राज्य नहीं जीते थे। झेलम के पूर्व में ही पोरस का राज्य था। युद्ध के उपरान्त सिकन्दर ने कौन सा अतिरिक्त राज्य दिया होगा। पुरु का राज्य विजित हुआ नहीं और अन्य क्षेत्र कोई ऐसा था ही नहीं कि दे सके अतः स्पष्ट ही विवरण असत्य एवं मनगढन्त है। इस उद्धरण में पुरु की हार का कोई संकेत नहीं है।

यूनानियों में डायोडोरस एवं जस्टिन ऐसे इतिहासकार हैं जो सिकन्दर के सन्धि प्रस्ताव अथवा पुरु के बन्दी बनाये जाने का प्लूटार्क की तरह सीधा उल्लेख नहीं करते। उनके अनुसार कई घावों से अत्यधिक रक्त-स्राव के कारण पुरु मुर्च्छित हो गया था और अफवाह फैल गई कि राजा मर गया फलस्वरूप सैनिक भागे।[104] किन्तु पुरु जीवित था।[105] पुरु के युद्धीय घावों के उपचार के सम्बन्ध में एक अन्य लेखक ने 'सिकन्दर द्वारा पुरु का अपने सैनिक जैसा उपचार के लिए यूनानियों को आदेश' दिए जाने का उल्लेख किया है,[106] किन्तु इस बात का भी उल्लेख आया है कि 'पुरु ने अपने घावों पर हाथ लगाने नहीं दिया'[107] और उसका औषधीय उपचार भारतीयों ने किया।[108] इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्धि-प्रस्ताव एवं औषधीय उपचार के भिन्न-भिन्न प्रकार के कथनों से ऐसा लगता है कि पुरु ने अपने स्वाभिमान के आगे न तो यूनानियों का सन्धि-प्रस्ताव स्वीकार किया और न ही उनका औषधि उपचार।

उसका कथन उद्धरणीय है-

101. एर्रियन, 5.19, इनवेजन, पृ. 109, कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 214, प्लूटार्क, 60, इनवेजन, पृ. 308
102. वही
103. जस्टिन, 12.8, इनवेजन, पृ. 323
104. डायोडोरस, 17.88, इनवेजन, पृ. 276
105. वही
106. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 214
107. जस्टिन, 12.8, इनवेजन, पृ. 323
108. डायोडोरस, 17.89, इनवेजन, पृ. 276

Poros fought on with heroic courage, but being drained of blood by the number of his wounds, he fainted away, and leaning on his elephant for support, was borne to the ground. A report having spread that their king was dead.... Poros himself, who was still alive, was given into the hands of the Indians to be cured of his wounds. (डायोडोरस, 17.88-89, इनवेजन, पृ. 276)

पुरु को लगे घावों के सम्बन्ध में भी थोड़ा विमर्श किया जाना चाहिए। डायोडोरस,[109] प्लूटार्क[110] और जस्टिन[111] ने पुरु के कई एक घावों का उल्लेख किया है। एर्रियन केवल एक घाव कहता है जो पुरु के अरक्षित दाहिने कन्धे में लगा था, पुरु का शेष शरीर सुदृढ़ लौह-कवच से पूर्णतः रक्षित था-

...wounded in the right shoulder, where only he was unprotected by armour in the battle. All the rest of his person was rendered shot-proof by his coat of mail, which was markable forits strength and the closeness with which it fitted his person.[112]

कर्टियस ने आगे एवं पीछे से लगे 9 घावों का उल्लेख किया है।[113] यहाँ एर्रियन का यह कथन उल्लेख्य है कि पुरु का पूरा शरीर लौह-कवच से सुरक्षित था और चोट असुरक्षित होने के कारण कन्धे में लगी स्पष्टतः आगे और पीछे से लगे 9 घावों का विवरण असत्य है और डायोडोरस, प्लूटार्क और जस्टिन द्वारा अनेक घावों का उल्लेख भी सही नहीं है। ये विपर्यय यूनानी इतिहासकारों के विवरणों के असत्य आधार व उनके मनगढ़न्त लेखन के उदाहरण हैं। एर्रियन का कन्धे के लौह-कवच से रक्षित न होने का कथन ठीक नहीं लगता क्योंकि युद्ध में प्रयोग की जाने वाली इन रचनाओं में शरीर के समस्त अंगों की रक्षा का ध्यान रखा जाता है। कन्धों को खुला छोड़ने की चूक किसी हालत में सम्भव ही नहीं मानी जा सकती।

उपर्युक्त तथ्यों को देखते हुए बहुत हद तक सम्भव है कि पुरु की विजय को उन्होंने तोड़-मरोड़ कर सिकन्दर के पक्ष में लिखा हो, सम्भव है कि पुरु ने सिकन्दर को अच्छी तरह पछाड़ दिया हो और उसे पीछे खदेड़ कर अपने राज्य को सुरक्षित रखा हो। पराजित सिकन्दर पुरु से सन्धि करके या तो झेलम से वापस गया या पुरु के राज्य से हटकर अभिसार राज्य में शरण ली हो क्योंकि अभिसार के दो बार आत्मसमर्पण की बात कही गई है, जिसमें एक झेलम-युद्ध से पूर्व[114] और एक उसके बाद[115] की घटना है, सम्भवतः झेलम युद्ध के बाद शरण को यूनानी लेखकों

109. वही, 17.89, इनवेजन, पृ. 277
110. प्लूटार्क, 60, इनवेजन, पृ. 308
111. 12.8, इनवेजन, पृ. 323
112. एर्रियन, 5.18, इनवेजन, पृ. 108
113. कर्टियस, 5.14, इनवेजन, पृ. 212
114. एर्रियन, 5.8, इनवेजन, पृ. 92
115. वही, 5.20, इनवेजन, पृ. 112

ने अभिसार का दूसरी बार आत्मसमर्पण कहा है; अथवा पुरु ने सिकन्दर की सन्धि को अस्वीकार करते हुए उसे खदेड़ा और सिकन्दर ने चिनाब पार कर किसी तरह अपनी रक्षा की। पश्चिम के विजित राज्यों में विद्रोह की स्थिति के कारण वह उधर नहीं जा सकता था। चिनाब तक की यात्रा में पुरु का सन्दर्भ कहीं नहीं आता है, उसका उल्लेख केवल एक बार होता है कि ग्लौसाइ (कलजों) को जीतने के बाद एर्रियन के अनुसार पुरु को जीते गए 37 नगर सौंपे गए[116] और स्ट्रैबो के अनुसार 9 देशों के 500 नगर थे।[117] कलजों से युद्ध में पुरु का कोई सन्दर्भ नहीं है सिवाय कि वह अपने राज्य को जाए एवं हाथियों को लेकर वापस आए।[118] यह सन्दर्भ पुरु को सिकन्दर के साथ होने का संकेत करने के लिए है। अब रही बात पुरु के हाथियों की तो यह स्पष्ट है कि झेलम युद्ध के बाद केवल 80 हाथी बचे थे और उन्हें सिकन्दर ने अपनी सेना में शामिल कर लिया था, तो अब कौन से हाथी थे जिन्हें लाने के लिए सिकन्दर ने पुरु को वापस भेजा। इस गलत बयानी को प्रमाणिक बनाने के लिए यूनानी लेखकों ने पुरु की वापसी सांगल युद्ध के समय कही है लेकिन वह कब और कहाँ पहुँचा और कितने हाथी लाया कुछ नहीं लिखा गया है, सिवाय इसके कि वह अपने शेष हाथियों और 5000 सैनिकों के साथ आया।[119] झेलम से रावी तक की दूरी सामान्य नहीं थी, इस बात का भी ध्यान यूनानियों ने नहीं रखा। सांगल के युद्ध में पुरु के किसी अन्य प्रकार के सहयोग का भी उल्लेख नहीं है। पोरस के किसी क्रियाकलाप का सन्दर्भ व्यास से सिकन्दर की वापसी यात्रा में भी कहीं नहीं आता सिवाय इसके कि वापस चलते समय झेलम से व्यास तक का क्षेत्र पोरस के हवाले किया। इस क्षेत्र के सात देशों के 2000 से अधिक नगरों का उल्लेख है।[120] स्ट्रैबो ने नौ देशों के 500 नगरों की बात कही है।[121] इन नौ अथवा सात देशों के नाम नहीं दिए गए हैं। पोरस और उसके चचेरे भाई के बाद ग्लौसाई एवं कठ ही आते हैं, इस प्रकार कुल चार देश कहे जा सकते हैं जो यूनानी विवरणों को असार्थक सिद्ध करते हैं। यह झूठी हाँक इस बात से ही असत्य है कि सन्दर्भित क्षेत्र में न तो इतने देश और न ही इतनी लड़ाइयाँ व आत्मसमर्पण के उल्लेख के ब्यौरे मिलते हैं। कठों से युद्धोपरान्त पुरु पुनः अपनी सेना के साथ जीते गए नगरों को भेजा जाता है।[122] अपने आत्मरक्षात्मक अभियान में ही सम्भवतः सिकन्दर को कठों से निपटना पड़ा। कठों के बाद सिकन्दर पुनः विजयोन्मादित हुआ और व्यास की ओर आगे बढ़ा,[123] किन्तु उसकी सेना अब हिम्मत हार गई थी और सिकन्दर को व्यास से लौटना पड़ा, यूनानियों ने ऐसा लिखा है।

116. एर्रियन, 5.20, इनवेजन, पृ. 112
117. स्ट्रैबो, 81.15.1.3, दष्व्य इनवेजन, पृ. 112, टिप्पणी।
118. एर्रियन, 5.21, इनवेजन, पृ. 114
119. एर्रियन, 5.24, इनवेजन, पृ. 119
120. एर्रियन, 6.2, इनवेजन, पृ. 133
121. स्ट्रैबो, 15.1.3
122. एर्रियन, 5.24, इनवेजन, पृ. 120
123. वही

आज तक यह बात किसी ने नहीं उठाई कि क्या सिकन्दर व्यास के तट पर पहुँचा था। एर्रियन के सन्दर्भित विवरण में पुरु को विजित नगरों को जाने और सिकन्दर के व्यास की ओर अग्रसर होने की बात कही गई है और इसके तुरन्त बाद अगले अध्याय में सैनिकों को आगे जाने से इनकार की बात कही गई है।[124] एर्रियन ने अध्याय 25 से 28 तक सैनिकों व सिकन्दर के कथोपकथन लिखे हैं और 29वें अध्याय में लौट चलने की बात है। व्यास तक जाने की चर्चा कहीं नहीं की गई है, तो व्यास तक अपने विजय की सीमा और उसके उपलक्ष्य में नदी तीर पर पूजा सम्पन्न करने हेतु वेदिकाएँ बनाने आदि की बात बेमानी है।

कर्टियस ने पुरु की उपस्थिति व्यास-तट पर जताई है जिससे सिकन्दर ने गंगा-घाटी (गंगरिडाइ) के शासक के सैन्य-बल 3000 हाथी वगैरह की सूचनाओं की सत्यता के बारे में पूछा था।[125] ध्यान देने की बात यह है कि-

- सिकन्दर ने पुरु को सांगल-युद्ध के बाद उसे सेना के साथ विजित नगरों को जाने के लिए कह कर अपनी व्यास की यात्रा अकेले ही की थी।[126]

- ऐसी स्थिति में गंगा-घाटी के शासक के सैन्य-बल की सत्यता बताने के लिए पुरु व्यास पर उपस्थित कैसे माना जा सकता है। स्पष्ट ही यह असत्य लेखन है।

कुछ यूनानी विवरणों के अनुसार सिकन्दर व्यास से पुनः झेलम लौटता है और तब अपनी वापसी करता है। गणनाओं के आधार पर सिकन्दर झेलम से व्यास तक लगभग एक माह में पहुँचा और फिर एक ही माह में झेलम लौटा।

व्यास से झेलम आने का विवरण नितान्त गलत है। व्यास जाते समय सिकन्दर को लड़ते-भिड़ते जाना पड़ा और लौटते समय वह निर्द्वन्द्व भाव से लौटा, दोनों ओर की यात्रावधि एक जैसी ही कैसे मानी जा सकती है। व्यास से झेलम लौटने का कोई विशेष विवरण नहीं ज्ञात होता जो इस कथानक को और भी झूठा साबित करता है, अन्यथा विजित राज्यों में सिकन्दर के आवभगत का उल्लेख अवश्य मिलता। अतः ऐसा जान पड़ता है कि सिकन्दर रावी के रास्ते ही स्वदेश लौटा हो। ऐसा मान लेने से वापस जाते समय हुए युद्धों के विवरणों के क्रम में भी कोई अन्तर नहीं पड़ता है। यदि रावी से होकर सिकन्दर का प्रस्थान न माना जाय तो निश्चित ही यह मानना चाहिये कि सिकन्दर पुरु से आगे न बढ़ सका और सारे विवरण प्रक्षिप्त या कल्पित हैं। किसी भी रीति से सिकन्दरी अभियान को आँकें, अन्ततः सिकन्दर एक भगोड़े के रूप में ही प्रस्थान करता है और उसके झेलम युद्ध के बाद का सारा प्रयत्न प्रतिशोध एवं अपनी भगोड़े की स्थिति पर पर्दा डालने के रूप में है। वापसी में मालवों द्वारा प्राण

124. एर्रियन, 5.25, इनवेजन, पृ. 121
125. कर्टियस, 9.2, इनवेजन, पृ. 222
126. एर्रियन, 5.24, इनवेजन, पृ. 120

घातक चोट से उबरने के बाद सिकन्दर द्वारा अपने सैनिकों व साथियों को वीरत्व का पाठ पढ़ाना[127] ऐसा ही उदाहरण है जबकि साथीगण उसके लिए सतर्कतापूर्वक जीवन की रक्षा का भाव प्रकट कर रहे थे जिससे यूनानी सैनिकों की सुरक्षित घर वापसी हो सके-[128]

...we are concerned for your personal safety,

... that there is no one but yourself who can lead us back to our hearths and homes.

प्लूटार्क की कुछ महत्वपूर्ण बातें यहाँ उल्लेखनीय हैं-

- इस इतिहासकार ने झेलम-युद्ध के बाद ही वापसी का अध्याय लिखा है।
- चेनाब पार करने, रावी पर पहुँचने व सांगल-युद्ध एवं व्यास-तट आदि का उसने कोई जिक्र नहीं किया है।
- प्लूटार्क ने सिकन्दरी सेना की हौसलापस्ती का कारण पुरु के युद्ध से छायी निराशा कहा है।[129]

उसके शब्द उद्धरणीय हैं-

The battle with Poros DEPRESSED THE SPIRIT of the Macedonians, and made them very unwilling to advance farther in to India.[130]

सिकन्दर के सैनिकों में मूलतः पुरु के हाथियों का डर घर कर गया था। मगध की विशाल सेना के 3000[131] हाथी अथवा 4000[132] व 6000[133] से जूझने को सोच ही नहीं सकते थे। झेलम-तट के युद्ध में हाथियों से भयाक्रान्त होने के कुछ उद्‌गार यहाँ उद्धृत हैं-

"It is the elephants only which make it impossible for the horses to land on the other bank. The rest of the army can cross over without difficulty." (एरियन, 5.11, इनवेजन, पृ. 98)

Horses would be terrified by these animals. (वही, 5.15, इनवेजन, पृ. 103)

These animals inspired great terror, and their strange dissonant cries frightened not only the horses, which shy at everything, but the men also, and disordered the ranks, so that those who just before were victorious began now to look round them for a place to which they could flee. (कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 211-210)

127. कर्टियस, 9.6, इनवेजन, पृ. 243
128. वही
129. प्लूटार्क, अध्याय 60, झेलम-युद्ध, अध्याय 61, बुकफेला स्मारक और अध्याय 62, सिकन्दर की वापसी, इनवेजन, कमशः पृ. 307, 309, 310
130. वही
131. कर्टियस, 9.2, इनवेजन, पृ. 222
132. डायोडोरस, 17.90, इनवेजन, पृ. 282
133. प्लूटार्क, 62, इनवेजन, पृ. 310

प्लूटार्क ने 'वापसी' को 'पराजय' के ही रूप में उल्लिखित किया है। सिकन्दर की वापसी के विवरण में उसने लिखा है-

...a retreat as tantamount to a confession of defeat. (प्लूटार्क, 62, इनवेजन, पृ. 310)

सिकन्दर की वापसी में भारतीय राजाओं द्वारा किए जाने वाले स्वागत[134] में उरश और अभिसार (अरसकीज एवं अबिसरीज) का नाम आता है। अभिसार राज ने इस समारोह में स्वयं न आकर अपना प्रतिनिधि भेजा था। अभिसार बहुत पहले से ही सिकन्दर की शरण में था। उरश से तो कोई युद्ध हुआ ही नहीं था। कठ और चचेरे पुरु भी शामिल नहीं थे। और झेलम तट का पुरु या पोरस पहले ही जा चुका था। यह स्वागत समारोह विचित्र ही कहा जाएगा। जिस स्थान पर इसका आयोजन था वह अलेक्जाण्ड्रिया के नाम से अध्येताओं द्वारा समीकृत किया गया है[135] और यूनानी इतिहासकारों ने इसे सिकन्दर की आज्ञा से हेफेशियन द्वारा बनाया गया लिखा है।[136] ध्यान देने की बात यह है कि व्यास की ओर जाते हुए सिकन्दर ने किसी प्रकार की ऐसी यादगार निर्मित करने की बात नहीं कही थी सिवाय झेलम तट के अपने घोड़े के मृत्यु स्थान एवं पुरु से युद्ध में अपने विजय की यादगार के लिए बुकफेला एवं निकैया के निर्माण के। कुल मिलाकर इन विवरणों का औचित्य असिद्ध है।

यूनानियों के छद्म-इतिहास की रचना सिकन्दर की झेलम-तट पर हुई हार को छुपा नहीं सकी है। वर्षा का कारण, सैनिकों के कार्य सम्पादन में कठिनाई जैसे बहाने, दिन भर के युद्ध के बाद अन्ततः सायंकाल में घायल-मूर्छित पुरु को सिकन्दर का सन्धि-प्रस्ताव, पुरु की वीरता की प्रशंसा में उसे बन्दी बनाने और उसे मित्र के रूप में उसके राज्य से अधिक भूमि (जिसका वह अधिकारी था ही नहीं) प्रदान करने तथा आगे के अभियानों में स्वाभिमानी राष्ट्रभक्त पुरु की संलग्नता दिखाने के कल्पित उल्लेख तथ्यात्मक विवेचनों पर खरे नहीं उतरते। इतिहास के पन्नों में अविश्वसनीय घटना-बिन्दुओं को पिरोने के बावजूद झेलम-तट पर सिकन्दर की हार स्पष्ट झलकती है। हार के परिणामस्वरूप ही अपने भयभीत सैनिकों के साथ झेलम-युद्ध के उपरान्त ही सीधे अपने देश के लिए वापसी करता है जैसा कि इतिहासकार प्लूटार्क ने साफ-साफ लिखा है कि झेलम के बाद सिकन्दर पहली लड़ाई भारत की सर्वप्रसिद्ध वीर जन-जाति मालवों से होती है जिन्होंने सिकन्दर पर जानलेवा प्रतिघात किया था-

134. एर्रियन, 5.29, इनवेजन, पृ. 129

135. वही, पाद टिप्पणी 2

136. वही, पृ. 129

136ए. एर्रियन, 5.20, इनवेजन, पृ. 111

136बी. वही, 6.2, इनवेजन, पृ. 133

136सी. डायोडोरस, 17.89, इनवेजन, पृ. 277

136डी. झेलम और चिनाब के प्रदेश को पाचीन काल में केकय कहा जाता था और केकय की राजधानी का नाम वाल्मीकीय रामायण (2.68.6 एवं 21) के अनुसार राजगृह अथवा गिरिब्रज पुर और महाभारत (2.27.15) के अनुसार उस नगर का नाम पौरव पुर था।

After marching thence Alexander, who wished to see the outer ocean, ... and he then fell down the rivers in a leisurely manner ... But he very nearly lost his life when he was amongst the people called the Malloi, who were said to be the most warlike of all the Indians. (प्लूटार्क, 62, इनवेजन, पृ. 311)

प्लूटार्क का यह सशक्त कथन सिकन्दर की व्यास तक जाने और वापसी की समस्त घटनाओं को 'झूठ का पुलिन्दा' सिद्ध करता है। पुरु से हारने के बाद सिकन्दर निश्चित रूप से झेलम तट से ही वापस गया होगा क्योंकि दो यूनानी नगरों की रचना के लिए क्रेटरस के रहने[137] एवं पुरु को समस्त विजित भारतीय राज्यों के शासकों तथा प्रतिनिधियों की सभा में सात देशों का अधिपति बनाने[138] वाले तथा डायोडोरस के अनुसार 30 दिन (एक महीने) तक अपने सैनिकों की दैनन्दिन आवश्यकताओं को जुटाने के लिए यहाँ टिकने वाले[139] सिकन्दर के विवरणों में यूनानी इतिहासकारों ने पुरु के देश की राजधानी[140] का नाम तक नहीं लिखा है।

स्वदेश लौटते समय बीच में ही सिकन्दर की मृत्यु यूनानियों के उन कल्पित एवं भ्रामक कथानकों के गढ़ने के कारण जान पड़ती है।

अपने नायक से विलग होकर स्वदेश पहुँच कर सच्ची बातों का उद्घाटन सम्भवतः उनके साहस के बाहर था। अपनी पराजय को लौटने का कारण कहना उन्होंने अपने नायक एवं अपनी महत्ता को घटाना समझा और फलस्वरूप घटनाओं का विचित्र समायोजन किया। जिससे हारे उस पर विजय की बात कही, जिससे सन्धि की उस पर कृपा करने की बात, भय के कारणभूत हुए कार्यों को अपनी विशेष विवशता कहा जिससे उनकी निरत विजय की बात अधिक प्रामाणिक सिद्ध हो सके। सम्भवतः सच्ची बातें किसी तरह लोक में फूट निकली जो इथियोपिया में सुरक्षित है तथा फिरदौसी और प्लूटार्क को ज्ञात थी।

भारतीय साहित्य में सिकन्दर एवं उसके आक्रमण का कोई जिक्र ही नहीं हुआ है। इसका मुख्य कारण यही अनुमानित किया जा सकता है कि भारत के पश्चिमोत्तरी सीमान्त (हिन्दूकश से झेलम एवं सिन्धु-समुद्र मुहाने तक) पर सिकन्दर की कुल 19 महीनों की हरकतें नगण्यतम रहीं। पुरु का उल्लेख सम्भवतः चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की महत् छाया के कारण भारतीय साहित्य में न हो सका। अपने राज्य के उद्भावक एवं उन्नायक के रूप में पुरु ही ऐतिहासिक पृष्ठों में दृष्टिगत है, वह लगभग 317 ई.प. में यूडेमस के षड्यन्त्रों से काल-कवलित हुआ था।[141]

137. वही, पृ. 406
138. एर्रियन, 5.15, इनवेजन, पृ. 120
139. डायोडोरस, 17.59, इनवेजन, पृ. 276
140. बन्बरी, हिस्ट्री ऑफ एंशिएण्ट ज्यॉग्रैफी, भाग 1, पृ. 453
141. कर्टियस, 8.14, इनवेजन, पृ. 214

पुरु के सम्भवतः 3 पुत्रों में से एक मुख्य-युद्ध के पूर्व के रण में वीरगति पा चुका था,[142] शेष 2 पुत्र मुख्य-युद्ध में वीर गति पाए थे।[143]

यूनानी इतिहासकारों में अपने विजेता को महिमा-मण्डित करने का आग्रह था। बन्बरी ने सिकन्दर के इतिहासकारों पर अपने नायक को महिमा-मण्डित करने के लिए प्राप्त तथ्यों का बिना किसी विचार-मन्थन के स्वीकारने का आरोप लगाया है। झेलम से रावी तक के क्षेत्र में 5000 बड़े-बड़े नगरों का उल्लेख एवं झेलम से चेनाब के बीच लगभग 40 मील चौड़े क्षेत्र में 3000 नगरों के होने की स्ट्रैबो द्वारा दी गई जानकारी को इतिहासकारों ने ललचाए भाव से ग्रहण किया कि उनके विजेता की महानता गाई जा सके-

"When the Greek writers tell us that the district between the Hydaspes and the Hyphasis alone contained 5000 cities(!), none of which was less than that of Cos (Strabo, xv. p. 686), and that the dominions of Poros, which were confined between the Hydaspes and the Acesines - a tract not more than 40 miles in width - contained 300 cities (id. p. 698), it is evident that the Greeks were misled by the exaggerated report so common with all Orientals, and which were greedily swallowed by the historians and Alexander with a view of magnifying the exploits of the great conqueror."[144]

सिकन्दर को महिमा-मण्डित करने का उद्देश्य अनेक स्थानों पर इतिहासकारों के लेखन में भी परिदर्शित है। सिकन्दर के इतिहासकारों के स्वयं की वाक्यावलियों में भी उसे महिमा-मण्डित करने के अनेकशः सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। कर्टियस का यह वाक्य विशेषतः द्रष्टव्य है-

'In fact, he thought that the fabric of his fame might be pulled down by his own people, while it could but receive enhanced lustre the greater those were whom he vanquished.'[145]

डोयोडोरस की लेखनी से पुरु और सिकन्दर का इतिहास सिकन्दर की भारत से वापसी के 263 वर्ष बाद लिखा जाना आरम्भ होता है।

मूल-स्रोतों के अभाव एवं 263 वर्ष बाद इतिहास लिखा जाना आरम्भ होने और उसमें भी सिकन्दर के महिमा-मण्डित किए जाने के तथ्य स्पष्ट ही संकेत करते हैं कि सत्यशः घटनाक्रमों का इतिवृत्त सम्भव नहीं, इसी कारण यूनानी इतिहासकारों के भारत सम्बन्धी विविध विवरण ऐसे हैं जिसमें अनेकशः विपर्यय हैं। वर्तमान में इतिहास की सत्यशः पुनर्रचना के लिए तथ्यों को छान कर उपस्थित करने का कार्य-सम्पादन किया गया है।

झेलम-युद्ध के अन्तिम समय के सिकन्दर और पुरु के वार्तालाप का कर्टियस ने एक अलग ही विवरण दिया है- 'सिकन्दर ने पुरु से पूछा कि तुम्हें क्यों कर हनक सवार था कि मुझसे युद्ध ठाना, तो पुरु ने उत्तर दिया कि मैं मानता था कि मुझसे बढ़ कर कोई दूसरा वीर नहीं है किन्तु तुम्हारा अनुभव नहीं था, युद्ध के बाद ज्ञात हुआ कि तुम मुझसे अधिक वीर हो फिर भी तुम्हारे बाद मैं ही हूँ।' इस कथोपकथन का यदि उपर्युक्त गवेषणापूर्ण विशद

एवं गहन विचारणाओं के सन्दर्भ में आकलन किया जाय तो यह निष्कर्ष स्पष्ट रूप से उभरता है कि वार्तालाप के पात्रों को एक दूसरे के स्थान पर यदि प्रत्यावर्तित कर दिया जाय अर्थात् सिकन्दर के स्थान पर पुरु और पुरु की जगह पर सिकन्दर को रखें तो सत्य घटना की अनुभूति हो सकेगी, क्योंकि तभी सिकन्दर झेलम तट से ही अपने भयभीत सैनिकों के साथ सीधे समुद्र के लिए रवाना हुआ जैसा कि प्लूटार्क ने लिखा है।

वैदिक वाङ्मय में नारी-चिन्तन

डॉ. रसाल सिंह[1]

प्रत्येक संरचना एवं सृजनता के आधार में न्यूनतम दो शक्ति या तत्व अवश्य होते हैं। 'अग्नीषोमात्मकं जगत' के अनुसार भी यह जगत अग्नि और सोम रूप है अर्थात् संसार का आधार ये दोनों तत्व हैं। प्राणिक जगत की संरचना का आधार भी दो तत्व हैं और ये दो तत्त्व स्त्री तथा पुरुष हैं। इस प्राणी समाज के अजस्र विकासक्रम के लिए दो तत्वों की ही आवश्यकता होती है जो गुण, कर्म, स्वभाव तथा शक्ति-सामर्थ्य के कारण पृथक् परन्तु आत्मिक रूप से समान तथा परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की विद्यमानता भी विभिन्न गुण, शक्ति सामर्थ्य से युक्त पृथक्-पृथक् पदार्थों की परस्पर पूरकता के कारण ही है। सभी नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि एक दूसरे की आकर्षण शक्ति के कारण अपने नियम में बंधे हैं और इसी कारण ब्रह्माण्ड अस्तित्व में है ।समाज के अभ्युदय तथा अस्तित्व में स्त्री तथा पुरुष का योगदान परस्पर अतुलनीय है, उनकी परस्पर तुलना करना चिंतन की अल्पज्ञता का द्योतक है, क्योंकि आत्म-तत्व समान होते हुए भी शारीरिक स्तर पर भेद है। दोनों में आत्म-तत्व के समान होने के कारण उनके मौलिक अधिकारों में भेद नहीं है । समाज के निरंतर विकास के लिए शारीरिक स्तर का यह भेद आवश्यक भी है और इसी भेद के कारण उनके कार्यों, दायित्वों में भी भेद है । बृहदारण्यक उपनिषद् में बड़े ही सुन्दर आख्यान से समाज के विकास के लिए इन दोनों तत्वों की आवश्यकता को समझाया गया है कि एकाकी आत्मतत्व इस संसार में रमण नहीं कर सका तो दूसरे की इच्छा रखते हुए वह आत्मतत्व दो रूपों पति और पत्नी के रूप में परिवर्तित हुआ।[2]

भाषा-विज्ञान के अनुसार कालानुसार शब्दों के अर्थ का संकुचन तथा विस्तार होता रहता है जैसे- संस्कृत साहित्य में 'मृग' शब्द पशु-जाति के लिए प्रयुक्त हुआ है, परंतु हिंदी भाषा में यह 'हिरण' का वाचक है। इसी प्रकार वैदिक वाङ्मय में 'पुरुष' शब्द आत्म-तत्व के लिए प्रयुक्त हुआ है, जो बाद में पुरुष शरीर का वाचक हो गया ।आत्मा और प्रकृति का स्वरूप-प्रतिपादन सांख्य दर्शन का मुख्य विषय है, जिसमें आत्मा के लिए पुरुष शब्द का प्रयोग किया गया है तथा योगदर्शन में भी ईश्वर के लिए महर्षि पतंजलि ने 'पुरुष-विशेष' शब्द का प्रयोग किया है ,क्योंकि

1. असिस्टेंट प्रोफेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-07

2. आत्मैवेदमग्र आसीत्पुरुषविधः... स वै नैव रेमे ... स द्वितीयमैच्छत् .... स इममेवात्मानं द्वेधापातयत् ततःपतिश्च पत्नी चाभवताम्। वृहदारण्यक उपनिषद्, 1/4/1

पुरुष शब्द का अर्थ है – 'यः पुरि शेते इति पुरुषः' अर्थात् जो (पुरि) शरीर में (शेते) निवास करता है और वह आत्मतत्व ही है, जो नर तथा नारी दोनों शरीरों में निवास करता है। अतः पुरुष शब्द स्त्री तथा पुरुष दोनों का वाचक है। इसी प्रकार पुत्र शब्द भी पुत्र तथा पुत्री दोनों को समाविष्ट करता है। इसलिए वैदिक वाङ्मय में उपदिष्ट ज्ञान पुरुष अर्थात् आत्मा मात्र के लिए है। जहाँ बाह्य शारीरिक भेद के कारण अलग-अलग उपदेश की आवश्यकता है वहां नर तथा नारी को विभिन्न अभिधानों से संबोधित कर उनके गुण और कर्तव्य बताये हैं, यथा- नारी के लिए - भगिनी, पत्नी, जाया, योषा, माता, पुत्री, शिक्षिका, सेनानी आदि संबोधनों के माध्यम से अनेक मंत्रों द्वारा उसके लिए उपदेश किया गया है।

भारतीय चिन्तन-परम्परा में समाज में पुरुष और स्त्री का परस्पर प्रतिस्पर्धात्मक तुलनात्मक स्थान न होकर दोनों परस्पर विभिन्न गुणों से युक्त होने के कारण एक दूसरे के पूरक हैं। पुरुष में अग्नि-तत्व की प्रधानता है तो स्त्री में सोम-तत्व की, पुरुष द्युलोक के समान है तो स्त्री पृथ्वी है, पुरुष दिन है तो स्त्री रजनी, पुरुष शरीर की संरचना के कारण बाह्य प्रवृति प्रधान है तो स्त्री आतंरिक, पुरुष बीज के सामान है तो स्त्री भूमि है ।स्त्री का स्थान पुरुष के बराबर, कम या नगण्य नहीं अपितु उसको अधिक सम्मान दिया जाता है। वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थ, सूत्र-ग्रन्थ तथा स्मृति-ग्रंथ आदि साहित्य ग्रंथों में स्त्रियों के महत्व, गुण, कर्म, समाज में स्थान और उनके गौरव का गुणगान किया है । छान्दोग्योपनिषद् तत्कालीन समाज में नारी के सम्मान, उदात्त चरित्र और नैतिक आदर्शों की उज्ज्वलता को दर्शाता है। मन्त्र में राजा अश्वपति घोषणा करता है कि मेरे राज्य में (स्वैरी) अमर्यादित पुरुष नहीं है तो (स्वैरिणी) अमर्यादित स्त्री कहाँ से होगी?[3] तात्पर्य है कि पुरुष की अमर्यादा पर ही स्त्री का अमर्यादित आचरण आधारित माना जाता था। राजा को यह विश्वास है कि स्त्री स्वेच्छा से उल्लंघन नहीं करती। उस समाज में किसी भी प्रकार का कदाचार उसके सम्मान को कलंकित नहीं करता था। मनु के अनुसार भी जिस समुदाय में स्त्री का सम्मान होता है, वहाँ सब कार्य पूर्ण होते हैं और देवता निवास करते हैं।[4] महाभारत के अनुशासन पर्व में भी कहा गया है कि - हे राजन्! स्त्रियों का सदा सत्कार और लालन करना चाहिए, क्योंकि जहाँ उनका आदर नहीं होता वहाँ सब कार्य विफल हो जाते हैं।[5]

ऋग्वेद में स्त्री को ब्रह्मा कह कर उसके गौरव का वर्णन किया है कि जिस प्रकार ब्रह्मा ज्ञान तथा जगत-उत्पत्ति का आधार है,उसी प्रकार स्त्री भी सन्तान की सर्वतोमुखी उन्नति करने के कारण परिवार तथा समाज के विकास का आधार है।[6] स्त्री पर घर की व्यवस्था, संचालन, निरीक्षण तथा समुन्नयन का दायित्व होने के कारण उसको ही

3. न मे स्तेतो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। न नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः छान्दोग्योपनिषद् - 5/11
4. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।। मनुस्मृति - 3/56
5. पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्य जनाधिप।। महाभारत - 46/5
6. स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ - ऋग्वेद - 8/33/19

घर कहा गया है- 'जायेदस्तम्'[7] (जाया) पत्नी (इत्) ही (अस्तम्) घर है। वह घर की देख रेख करने के कारण मात्र सेविका न होकर गृहस्वामिनी या सम्राज्ञी कहलाती है। घर के निर्णय लेना का भी अधिकार स्त्री को है जैसे अथर्वेद[8] के मन्त्र में पत्नी का कथन है कि यहाँ (घर) मैं बोलती हूँ तुम नहीं ... और वह मात्र परिवार की ही नहीं अपितु कुल की भी पालिका या रक्षक है।[9]

शतपथ ब्राह्मण[10] के अनुसार बिना पत्नी के पुरुष अपूर्ण है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्त्री का लक्ष्मी के समान आदरणीय स्थान बताया तथा पुरुष की सहधर्मिणी होने के कारण उसके बिना किए गए धार्मिक अनुष्ठान अपूर्ण माने जाते हैं।[11] स्त्री अपने सरलता, सरसता, ममता, सहिष्णुता, शालीनता, मृदुता और प्रसन्नचित्तता आदि गुणों के कारण गृहस्थ रूपी वृक्ष तथा सुख का मूल है।[12]

वेदों तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में उसके किसी भी प्रकार के अपमान और ताड़न को अशिष्ट बताया है। अथर्ववेद में कहा गया है कि कुमारी की किसी भी प्रकार की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[13] शतपथ ब्राह्मण[14] में भी स्त्री-हिंसा का निषेध किया गया है। इस प्रकार वैदिक साहित्य में नारी को उसके गुणों के कारण परिवार, समाज तथा कुल का वैभव, प्रतिष्ठा, आमोद-प्रमोद का आधार बता कर उसको आदरणीय, वन्दनीय स्थान दिया है।

प्राचीन काल में नारी शस्त्र-शास्त्र की वेत्ता, मन्त्र-द्रष्टा ऋषिका, शास्त्रार्थ में निपुण, ब्रह्मवादिनी होने के साथ साथ विविध विद्याओं से विभूषित होती थी। वेदों में श्रद्धा सूक्त जैसे दार्शनिक सूक्त, भाषा-विज्ञान जैसे वाक् सूक्तों की लोपामुद्रा, विश्ववारा, घोषा, अपाला, आत्रेयी, अदिति, गोधा आदि लगभग 30 ऋषिकाओं के 225 मंत्र नारी के दार्शनिक, आध्यात्मिक और वैज्ञानिक चिंतन के परिचायक हैं। उपनिषत्काल में भी समाज में गार्गी और याज्ञवल्क्य का शास्त्रार्थ नारी की विद्वत्ता तथा मैत्रेयी द्वारा आत्मा का स्वरूप जानना नारी के आध्यात्मिक स्तर का प्रतिनिधित्व करता है। नारी शिक्षा के साथ साथ विविध प्रकार के गायन, वादन, नृत्य आदि ललित कलाओं में भी प्रवीण होती थीं और उस समय पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर शिक्षा ग्रहण करके युवा होकर पति का चयन करती थी।[15] अथर्ववेद के ही अन्य मन्त्र में युवक और युवती दोनों को परस्पर एक दूसरे की इच्छा रखते हुए विवाह करने का निर्देश दिया

7. ऋग्वेद - 3/53/4
8. अहं वदामि नेत् त्वम् .... अथर्ववेद - 7/38/4
9. 'एषा ते कुलपा राजन्' - अथर्ववेद - 1/14/3
10. यावत् जायां न विन्दते, असर्वो हितावद् भवति। शतपथ ब्राह्मण - 5/2/1
11. अयज्ञो वा एषः योऽपत्निकः - तैत्तिरीय ब्राह्मण - 2/2/6
12. 'स्योना भव श्वशुरेभ्यः ...' अथर्ववेद - 14/2/27
13. ह्वा हिंसिष्ट कुमार्यम् । अथर्ववेद - 14/1/63
14. न वै स्त्रियं घ्नन्ति - शतपथ ब्राह्मण - 11/4/3/2
15. 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'। अथर्ववेद - 11/5/19

है।[16] इससे ज्ञात होता है कि वैदिक समाज में कन्या विद्या-ग्रहण कर अपनी इच्छानुसार विवाह करने का अधिकार रखती है।

भारतीय नारी ललित विद्या कला-कौशल तथा सुगृहिणी होने के साथ साथ वह रणक्षेत्र, सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन में भी महत्वपूर्ण योगदान करती थी। यजुर्वेद के अनुसार स्त्री और पुरुष दोनों ही शासक चुने जा सकते थे और यदि पति शासक है तो पत्नी दूसरों को राजनीति का ज्ञान देती थी। राष्ट्र को कुशल नेता, विद्वान, वरणीय, चरित्रवान संतान देने के कारण वह वीरप्रसवा है तथा अपने क्षात्र बल के कारण स्वयं युद्ध में भाग लेने और आवश्यकता पड़ने पर बलिदान करने के कारण वीरांगना है। वेद में सेना की नायिका को इन्द्राणी कहा गया है तथा मन्त्र में सेनापति के रूप में नारी से अजेय होकर आगे चलने के लिए प्रार्थना की गई है।[17] यजुर्वेद में भी स्त्री को क्षात्रबल की आधार बताया गया है।[18] भारतीय नारी शक्तिमती, सुव्रती पुत्रों की माता, शत्रु से पराजित न होने वाली रही है। वैदिक नारी स्वयं कहती है कि मेरे पुत्र शत्रुहन्ता और पुत्री तेजस्विनी हैं और मैं पूर्ण विजेत्री हूँ।[19] ऋग्वेद के ही अन्य मन्त्र में अखण्ड स्वाभिमानी विदुषी नारी को राष्ट्र की ध्वजा, समाज की मूर्धा, वाणी में बल रखने वाली तथा शत्रु-सेना को पराजित करने वाली कहा है- अहं केतुरहं मूर्धा.....।

इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक साहित्य नारी के उदात्त गुणों का अनेकविध वर्णन करता है। भारतीय नारी देवी, पूज्या, रमणीय, यशोमयी, विदुषी, वीरांगना, शिक्षिका, सुगृहिणी,सम्राज्ञी, वीरप्रसवा है। वास्तव में, समुन्नत राष्ट्र या यूँ कहें कि मानवोन्नति की आधार नारी ही होती है। मनुष्य निर्माण के सबसे बड़े उतरदायित्व का प्रारम्भ स्वाभाविक रूप से उसी के गर्भ में होता है। इसीलिए वेद उसको ब्रह्मा कहता है। यजुर्वेद में उसे पुरन्धि कहा है - 'पुरंधिर्योषा' क्योंकि वह सुभग नारी ही राष्ट्र की आधार है। वैदिक साहित्य स्त्री को किसी भी प्रकार के अधिकारों से वंचित नहीं रखता है। ऐसा कौन-सा कार्य है जो वह नहीं कर सकती? वह आवश्यकतानुसार सब कार्य सहजता से कर सकती है, परन्तु 'माता निर्माता भवति' इस उक्ति को सार्थक करने के कारण वह समाज में परम वन्दनीय है।

16. एयमगन् पतिकामा जनिकामोऽहमगामम् ... अथर्ववेद - 2/30/5
17. इंद्राण्येतु प्रथामाऽजीताऽमुषिता पुरः - अथर्ववेद, 1/27/4
18. क्षत्रस्य योनिरसि - यजुर्वेद, 10/26
19. मम पुत्राः शत्रुहनो अथो मे दुहिता विराट् । ऋग्वेद, 10/159/3

वर्त्तमान सन्दर्भों में पं. दीनदयाल उपाध्याय

अजीत प्रताप सिंह[1]

'दीनदयाल जी के राजनीतिक क्षेत्र में जाने के बाद (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक) श्री गुरूजी ने उनसे यह विषय छेड़ा कि केवल एक राजनीतिक पार्टी या संगठन बनाने से काम नही चलेगा। आज विश्व में जो दो विचारधारायें चल रही है एक समाजवाद और साम्यवाद की जिसमें सरकार ही सब कुछ है, व्यक्ति निरुपाय होकर उसकी आज्ञा का पालन करता है, और दूसरी, अमेरिका का पूँजीवाद जिसमें व्यक्ति ही सब कुछ है समाज की कोई विशेष चिंता नही दिखती है। इसके अतिरिक्त कोई तीसरी विचारधारा आपको प्रतिपादित करनी पड़ेगी जो भारत के मूल स्वभाव से सुसंगत हो। उसी के परिणाम स्वरूप जीवन के अंतिम वर्षों में एकात्म मानववाद का हरेक क्षेत्र में कैसा रूप होगा यह सिद्धान्त लेकर उन्होंने अर्थनीति, सामाजिक नीति आदि का प्रतिपादन किया।'[2]

दीनदयाल उपाध्याय जी की दूरदृष्टि के कारण उनके विचार कालजयी हैं, जिसका परिणाम है कि उनके द्वारा दिये गए विचारों के पाँच दशक गुजर जाने के बाद, आज भी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में जब भी समग्र दृष्टि से राष्ट्र चिंतन के आधार पर योजना निर्माण के लिए विचार किया जाता है तो या तो योजनाकर्ता के विचार सहज ही दीनदयाल जी के विचारों के आसपास होते हैं या फिर दीनदयालजी के विचार उनका मार्गदर्शन करते हैं। इसका कारण है कि सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में देश के विभिन्न प्रांतों में घूम-घूम कर उनके द्वारा तत्कालीन आर्थिक परिस्थिति को गहराई से देखना। उन्होंने 'पार्टी के आर्थिक दर्शन पर विचार करने के लिए कोलकाता में निरंतर तीन वर्ष तक अर्थशास्त्र से संबंधित पुस्तकों का गहन अध्ययन और मनन किया।'[3] परिणामस्वरूप उन्होंने जब आर्थिक विषयों पर लिखा तब एक अर्थशास्त्री के रूप में अपने विचार दिया। उनके आर्थिक विचार चाहे कृषि पर हों, चाहे रोजगार पर हों, चाहे औद्योगिक क्षेत्र पर हों उनके अध्ययन से ऐसा स्पष्ट होता है कि औपनिवेशिक सत्ता से मुक्त होने के बाद आज से लगभग पांच दशक पूर्व नये भारत निर्माण को लक्ष्य बनाकर तत्कालीन सरकार द्वारा जो योजनाए बन रही थीं उन पर वे एक ओर सुधारात्मक विरोध कर रहे थे तो साथ ही योजनाओं के भविष्य में होने वाले नकारात्मक परिणामों से भी आगाह कर रहे थे, जो भविष्य में सत्य सिद्ध हुई।

1. शोधछात्र, अर्थशास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

2. देवेन्द्र स्वरूप व ब्रजकिशोर शर्मा, हमारे रज्जू भैया, प्रभात प्रकाशन नई दिल्ली, पेज -121

3. डॉ श्रीकांत, 'उनके लिए मशीन थी पत्रकारिता', मीडिया विमर्श- त्रैमासिक पत्रिका, अक्टूबर-सितंबर, 2014, पेज-11

साम्यवाद तथा पूंजीवाद

बीसवीं सदी के मध्य में दुनिया के तमाम देशों में पूंजीवाद और साम्यवाद के आर्थिक दृष्टिकोण को लेकर बहस हो रही थी। यह वही दौर था जब भारत सहित अनेक अफ्रीकी और एशियाई देश औपनिवेशिक सत्ता की गुलामी से मुक्त हो रहे थे या हो गए थे। प्रत्येक देश नई ऊर्जा के साथ अपने राष्ट्र निर्माण पर लगा हुआ था। इन दोनों दृष्टिकोण के हिमायती भारत में भी कम नहीं थे, साथ ही दुनिया में अमेरिका और सोवियत संघ के द्वारा अपनी विचारधारा को नव उपनिवेशवाद के रूप में देखते हुए साम्यवाद और पूंजीवाद के अनुकूल प्रायोजित रूप से तर्कों को गढ़ा जा रहा था। परंतु दीनदयाल जी के अनुसार यह दोनों पाश्चात्य विचारधारा भारत के अनुकूल नही हैं और उनकी दृष्टि में साम्यवाद और पूंजीवाद के बीच में मूल मतभेद स्वामित्व के स्वरूप को लेकर था। इनकी प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण और कार्यपद्धति एक सी है। उनका कहना था कि 'उत्पादन पर अधिक बल देने के कारण अमेरिका आदि देशों में पूंजीवाद का प्रसार हुआ। नवाविष्कृत-यंत्र इस वृद्धिगत उत्पादन के कारण बने और इन यंत्रों के स्वामी ही उत्पादन के स्वामी भी बन गये। लाभ में जब श्रमिकों को भाग नहीं मिला तब उनमें प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और उन्होंने एक नयी प्रणाली साम्यवाद का विकास किया, जिसमें पुनः वितरण पर ही अधिक बल दिया गया।'[4] परंतु इसकी क्या गारंटी है कि यदि कोई व्यक्ति निजी क्षेत्र में स्वतंत्र रहकर बुराई करता है तो उसके स्थान पर राज्य का व्यक्ति बैठा देने पर बुराई नहीं फैलेंगी?[5]

दीनदयालजी ने एकात्म मानववाद में कहा है कि 'पूंजीवाद और समाजवाद इन दोनों ही व्यवस्थाओं में मानव के सही एवं पूर्ण रूप को नहीं समझा गया। एक में उसे स्वार्थी, अर्थपरायण, संघर्षशील एवं मत्स्यन्याय-प्रवण प्राणी माना गया है तो दूसरी में व्यवस्थाओं और परिस्थितियों का दास, अकिंचन एवं अनास्थामय माना गया है। शक्तियों का केंद्रीकरण दोनों में अभिप्रेत है। फलतः दोनों का परिणाम अमानवीकरण में हो रहा है।'[6] समाजवाद अफसरीकरण का ही दूसरा नाम है।[7] व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विचार लेकर चलने वाले प्रजातंत्र ने यदि एक 'अर्थ मानव' की सृष्टि की तो साम्यवाद ने एक 'सामान्य जन' की उत्पत्ति की। यह सामान्य जन भगवान की सृष्टि नहीं बल्कि राज्य द्वारा रचा जाता है।[8] 'पूंजीवादी अर्थव्यवस्था पहले आर्थिक क्षेत्र पर आधिपत्य जमाकर फिर परोक्ष रूप से राज्य पर अधिकार करती है। तो समाजवाद राज्य को ही संपूर्ण उत्पादन के साधनों का स्वामी बना देता है। दोनों

4. पंडित दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्र चिंतन, लोकहित प्रकाशन संस्कृति भवन राजेंद्र नगर लखनऊ सितंबर 2014 पेज 72
5. वही पेज 77
6. पंडित दीनदयाल उपाध्याय, एकात्म मानव दर्शन, सुरुचि प्रकाशन केशव कुंज झंडेवाला नई नई झंडेवाला नई नई दिल्ली 2012, पेज नंबर 74
7. पंडित दीनदयाल उपाध्याय भारतीय अर्थनीति विकास की दिशा पांचवा संस्करण लोकहित प्रकाशन संस्कृति भवन राजेंद्र नगर लखनऊ 2014 पेज 127
8. वही पेज 126

व्यवस्थाएं व्यक्ति के प्रजातंत्रीय अधिकार और उसके स्वस्थ विकास के प्रतिकूल है। अतः हमें विकेंद्रीकरण के साथ-साथ शक्तियों के विभक्तिकरण का भी विचार करना चाहिए।'[9] दीनदयालजी ने इन दोनों विचारधाराओं को भारतीयता के अनुकूल न होने के कारण नकार दिया था, साथ में उन्होंने इन दोनों में व्याप्त दुर्गुणों के बारे में भी विस्तार से लिखा था। दीनदयालजी ने एकात्मता मानववाद में कहा है कि 'दो शब्दों का प्रयोग कर अपनी अर्थव्यवस्था की दिशा में परिवर्तन को बताना हो तो वे है - विकेंद्रीकरण और स्वदेशी।'[10]

दीनदयालजी का मानना था कि जिस प्रकार लोकतांत्रिक व्यवस्था ने प्रत्येक व्यक्ति को शक्ति प्रदान की है, जिससे वह देश की सत्ता पर कौन बैठेगा इसका निर्धारण करते हैं, उसी प्रकार आर्थिक क्षेत्र में भी विकेंद्रीकरण हो जिससे देश की अर्थव्यवस्था का निर्माण और संचालन में प्रत्येक व्यक्ति की भागीदारी हो सके। पूंजीवाद और समाजवाद दोनों केंद्रीकरण के हामी हैं। वह लिखते हैं कि 'राजनीति में व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को जिस प्रकार तानाशाही नष्ट करती है, उसी प्रकार अर्थनीति में व्यक्ति की रचनात्मक क्षमता को भारी पैमाने पर किया गया औद्योगीकरण नष्ट करता है। ऐसे उद्योगों में व्यक्ति स्वयं भी मशीन का एक पुर्जा बनकर रह जाता है। इसलिए तानाशाही की भांति ऐसे औद्योगीकरण भी वर्जनीय है।'[11] 'जब टाटा-बिरला, व्यक्ति-स्वतंत्रता या मुक्त प्रेरणा की बात करते हैं तो उसका अभिप्राय होता है, उनकी अपनी स्वतंत्रता, उनके कारखानों में गुलाम बने हुए लाखों करोड़ों मजदूरों की स्वतंत्रता नहीं। हमें तो लाखों करोड़ों मानवों की स्वतंत्रता का विचार करना है।[12] आर्थिक क्षेत्र में व्यक्ति की यह रचनाशक्ति तभी प्रकट हो सकती है, जब विकेंद्रीकरण के आधार पर उद्योगों की व्यवस्था हो।

दीनदयालजी ने अपने औद्योगिक नीति में पहले तो पूंजीवाद और समाजवाद की विचारधारा को स्वीकार किया, उसके बाद उन्होंने उद्योगों के आकार और उनके स्वामित्व पर विचार किया। दीनदयालजी विकेन्द्रित लघु उद्योग के पक्ष में थे, वह बड़े उद्योगों के पक्ष में नहीं थे। देश काल परिस्थिति के अनुसार उन्होंने बड़े उद्योगों पर असहमति के साथ तर्क दिये उनका यह कहना था- बड़े उद्योग पूँजी प्रधान होने की वजह से देश के प्रत्येक व्यक्ति को काम नहीं दे सकते हैं।

- बड़े उद्योग के लिए आवश्यक पूँजी देश के सामर्थ्य के बाहर है।
- देश में उपलब्ध प्रबंध और श्रमिक प्रशिक्षण से मेल नहीं खाते हैं।
- श्रमिकों को कुटुंब, कुल, जाति, ग्राम से अलग कर नए कृत्रिम, बोझिल और मानव मूल्य रहित वातावरण पर खड़ा कर देते हैं। बड़े उद्योग आयात पर निर्भर हैं।

9. वही पेज 32
10. पंडित दीनदयाल उपाध्याय, एकात्म मानव दर्शन, सुरुचि प्रकाशन केशव कुंज झंडेवाला, नई दिल्ली 2012, पेज नंबर 76
11. पंडित दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्र चिंतन, लोकहित प्रकाशन संस्कृति भवन राजेंद्र नगर लखनऊ सितंबर 2014 पेज 78
12. वही

- नगरीकरण के फलस्वरूप स्वास्थ्य आवास आदि की व्यवस्था पर भारी व्यय करना भी संभव नहीं हो पाता।
- भारी उद्योग कृषि का निकट संबंध नहीं बैठाया जा सकता। दोनों के बीच की दूरी में मध्यस्थ का जन्म होने की प्रबल सम्भवना है। भारत में व्यापक मात्रा में कृषि होने के कारण खेतों में कुछ समय के लिए भारी संख्या में श्रमिकों की आवश्यकता होती है, शेष समय वह खाली रहते हैं जिससे गांव से मजदूर वर्ग को हटाकर शहरों में ले जाना कृषि के लिए घातक होगा।
- स्थानीकरण (कंपनियों के एक स्थान पर आबद्ध होने) से देश के यातायात के साधनों में बहुत भार पड़ेगा!
- अगर केंद्रीकृत बड़े उद्योग स्थापित किये जाते हैं तो हमें समानता और न्याय की बातें छोड़नी पड़ेगी, क्योंकि पूंजी प्रधान बड़े उद्योगों के लिए यदि धन चाहिए तो पूंजी बड़े-बड़े उद्योगपतियों के पास छोड़नी होगी।[13]

दीनदयालजी का मानना था कि हमें औद्योगिक क्षेत्र में उसी प्रणाली को स्वीकार करना चाहिए 'जिसमें हम कुटुंब की इकाई को ही उत्पादन की इकाई बना सकें। उद्योग में भी कुटीर और छोटे-छोटे उद्योग, जो घर में ही चलाये जा सकते हों हमारे व्यापक औद्योगीकरण के कार्यक्रम होंगे। हाँ इसमें हम अच्छी से अच्छी मशीन और बिजली का उपयोग कर सकते हैं।[14] इसी में मालिक, मजदूर, उत्पादक, उपभोक्ता आदि के पारस्परिक संबंधों का ठीक-ठीक निर्धारण हो सकेगा।'[15]

आर्थिक समानता के लिए समाजवादियों ने निजी संपत्ति को बुराई के रूप में देखते हुए, व्यापक राष्ट्रीयकरण की बात कही। दीनदयालजी ने इसे अस्वीकार किया। वह पूंजी के एकत्रीकरण के पक्ष में नहीं थे, लेकिन समाजवादी विचारधारा के अनुकूल संसाधनों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में भी नहीं थे, और भारतीय संस्कृति में यह संभव भी नही है। उनका मानना था कि पूंजीवाद में जहां एक व्यक्ति का स्वामित्व होता है वहीं पर समाजवाद में व्यक्ति समूह का स्वामित्व हो जाता है, इसलिए वह कहते हैं कि 'निजी संपत्ति के कारण बुराइयां उत्पन्न होने पर भी हम उसका बहिष्कार नहीं कर सकते हैं। हमें निजी संपत्ति की मर्यादा अवश्य स्थापित करनी होगी। विकेंद्रीकरण इन मर्यादाओं की स्थापना का ही कार्यक्रम है।'[16]

दीनदयालजी का मत था कि जहां पर कच्चे माल उपलब्ध हो वहीं उद्योगों को स्थापित करना चाहिए, इससे यातायात की लागत तो घटेगी ही, वहीं दूसरी ओर उद्योगों को कच्चे माल को प्राप्त कराने के लिए बिचौलियों की आवश्यकता नहीं होगी, जिससे उपभोक्ता को वाजिब कीमत पर वस्तुएं उपलब्ध होंगी। कच्चे माल के उत्पादकों को

13. पंडित दीनदयाल उपाध्याय, भारतीय अर्थनीति विकास की दिशा, पांचवा संस्करण, लोकहित प्रकाशन संस्कृति भवन राजेंद्र नगर लखनऊ, 2014, पेज-122
14. वही पेज 127
15. पंडित दीनदयाल उपाध्याय, राष्ट्रीय जीवन की दिशा, लोकहित प्रकाशन-संस्कृत भवन राजेंद्र नगर लखनऊ, अक्टूबर 2010 पेज नंबर-126
16. वही पेज 126

भी उनके उत्पाद का ठीक मूल्य मिले सकेगा और उद्योग के स्वामी को भी कच्चा माल उचित कीमत उपलब्ध होगा। लेकिन ऐसी स्थिति में बड़े उद्योग उपयोगी नहीं होंगे, विकेंद्रीकृत उद्योग प्रणाली को अपनाना होगा। दीनदयाल जी के इन विचारों से इतर औद्योगिक नीति में जिस प्रकार बड़े उद्योगों को महत्व दिया गया उससे बड़े उद्योगों ने पर्याप्त किसानों और उपभोक्ताओं के शोषण के रास्ते खोले हैं। वर्तमान में किसानों की फसल का उचित मूल्य न मिलना, जबकि उनसे प्रसंस्करित उत्पादों की कीमत में अत्यधिक अंतर है इसका उदाहरण है।

सामान्यतः पूर्वाग्रह से ग्रसित बड़े उद्योगों के हिमायती देश की विशाल जनसंख्या की आवश्यकता और पूर्ति अंतर को तर्कों के आधार पर प्राथमिकता से रखते हैं। उनका यह मानना है कि देश में जितनी आवश्यकता है उसकी पूर्ति छोटे उद्योगों से नहीं हो सकती है दूसरा छोटे उद्योगों की उत्पादन लागत बड़े उद्योगों की अपेक्षा बहुत अधिक होती है। दीनदयालजी ने इसको भी अस्वीकार किया, 'सत्य तो यह है कि किफायतें बड़े पैमाने पर उत्पादन से नहीं, अधिक उत्पादन के कारण होती हैं। अगर हम इतिहास को देखें तो ब्रिटेन में बड़े पैमाने पर कपड़ा तैयार होने पर भी भारत का कपड़ा वहां जाकर सस्ता पड़ता था। जापान की वस्तुएं सस्ती आकर बाजार से बाकी सब माल को निकाल देती हैं, बड़े कारखाने में नहीं, घरों में बनती हैं। यदि अधिक उत्पादन नहीं हुआ तो बड़े पैमाने के उद्योगों की ऊपरी व्यवस्था का ही इतना खर्च आता है कि उत्पादन-व्यय बढ़े बिना नहीं रह सकता। आज देश में जो छोटे आधार पर नए उद्योग खड़े हैं वे प्रतिस्पर्धा में अच्छी तरह टक्कर ले रहे हैं। यदि उनकी असुविधाएं दूर कर दी जायें तथा बड़े उद्योगों को जो सुविधाएं अर्थातिरिक्त कारणों से प्राप्त है, न मिले तो निश्चित ही वे बाजी मार ले जाएंगे।'[17] 'हमारे यहां कपड़े बुनने वाले, बर्तन बनाने वाले, जूते बनाने वाले, लोहे का सामान बनाने वाले, शिल्पकारों की वृहत परंपरा थी, समृद्ध परंपरा थी, इन्हें फिर से जागृत करना होगा। तब जाकर भारत का विराट जागृत होगा।[18]

औद्योगिक प्राथमिकता

आर्थिक चिंतन के क्षेत्र में हमारी अस्मिता देश, काल, परिस्थिति के अनुसार एक प्रवाह के रूप में प्रवाहित होती चली आ रही है। युगों पूर्व से भारत में आर्थिक चिंतन समग्रता एवं सूक्ष्मता के साथ होता चला आ रहा है।[19] दीनदयालजी ने उन्ही भारतीय निरंतरता के सूत्रों को ध्यान में रखकर औद्योगिक नीति के बारे में जितना लिखा उसके

17. पंडित दीनदयाल उपाध्याय भारतीय अर्थनीति विकास की दिशा पांचवा संस्करण लोकहित प्रकाशन संस्कृति भवन राजेंद्र नगर लखनऊ 2014 पेज 132-133
18. बजरंग लाल गुप्त, राष्ट्र दृष्टि, संपादक-डॉ. चन्द्र प्रकाश सिंह अरुंधति वशिष्ठ अनुसंधान पीठ, महावीर भवन प्रयागराज वर्ष 2019 पेज-37
19. डॉ. बजरंग लाल लाल गुप्त, भारतीय अस्मिता की निरंतरता, संपादक-डॉ. चन्द्र प्रकाश सिंह अरुंधति वशिष्ठ अनुसंधान पीठ, महावीर भवन प्रयागराज 2017 पेज 48

अध्ययन से उनकी औद्योगिक नीति की कुछ प्राथमिकताएं स्पष्ट होती हैं। जैसे दीनदयालजी ने ऐसी औद्योगिक नीति की बात कही जो एक ओर युगानुकूल तो दूसरी ओर देशानुकूल हो, वह समय के साथ उद्योगों की तकनीकी में परिवर्तन के पक्ष में तो हैं लेकिन इसके लिए यह भी चाहते हैं कि पहले उस तकनीक को देशानुकूल बनाया जाये ताकि देश मे उपलब्ध संसाधनों से पर्याप्त रोजगार मिल सके। दूसरी बात देश के लोगों के भरण-पोषण और उनके जीवन के विकास की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद और अधिक समृद्धि और सुख के लिए अर्थोंत्पादन करना चाहिए या नहीं करना चाहिए, क्योंकि पाश्चात्य अर्थ चिंतन तो इच्छाओं को बराबर बढ़ाते जाना और उनकी आवश्यकताओं की निरंतर पूर्ति करने को ही अपना लक्ष्य मानता है। वह कोई मर्यादा नहीं मानता है। अधिकांश ऐसे देश जो पहले इच्छा की पूर्ति के लिए साधन जुटाकर उत्पादन करते थे, वह अब पहले उत्पादन करते हैं, और उत्पादन के बाद लोगों में विभिन्न विज्ञापन के माध्यम से इच्छा पैदा करते हैं। बाजार के लिए उत्पादन करने के स्थान पर उत्पादित वस्तु के लिए बाजार ढूंढना, न मिले तो नए बाजार पैदा करना उनकी आर्थिक नीति का प्रमुख अंग बन गया है।

दीनदयाल जी की औद्योगिक नीति कैसी थी इसको लेकर अर्थ चिंतक डॉ. बजरंग लाल गुप्ता जी लिखते हैं कि 'इस विषय में दीनदयालजी ने एक शब्द प्रयोग किया हमें अपरमातृक उद्योग नीति चाहिए। यानी स्वावलंबन से कुछ अधिक उत्पादन करने वाले उद्योग चाहिए। जितनी हमारी जरूरत है उतना देश में पैदा होना ही चाहिए, पर कभी-कभी बाहर से भी मंगवाना पड़ सकता है। इसको वापस हम तभी दे सकेंगे जब स्वावलंबन से कुछ अधिक, अतिरिक्त उत्पादन कर सकने वाली उद्योग नीति हो, जिसे उन्होंने अपरमातृक उद्योगनीति कहा।'[20]

छोटे और बड़े उद्योग

देश की औद्योगिक नीति का मुख्य आधार छोटे उद्योगों को मानने के बाद भी दीनदयाल जी की औद्योगिक नीति सर्वोदयी औद्योगिक नीति से कुछ हद तक अलग है। वह गांधीजी की तरह बड़े उद्योगों के विरोधी नहीं हैं और वह सर्वोदय से अलग छोटे उद्योगों में परंपरागत तकनीकी के स्थान पर युगानुकूल लेकिन देशानुकूल तकनीकी के समर्थक हैं। दीनदयाल जी के औद्योगिक विचार में उपभोक्ता, उत्पादक और बाजार के बीच में एक एकात्मकता दिखती है, उन्होंने लघु एवं कुटीर उद्योगों को दो वर्गों में बांटा, इनमें लघु उद्योग उन्हें कहा जहां पर बिजली का प्रयोग किया जाता है। वह आगे कहते हैं कि तकनीकी विकास के साथ-साथ समस्त कुटीर उद्योग जिनमें बिजली का प्रयोग नहीं किया जाता है, वहाँ भी बिजली का प्रयोग किया जाने लगेगा, जिससे भविष्य में लघु एवं कुटीर उद्योग के बीच का अंतर समाप्त हो जाएगा। उनका कहना है कि 'साधारण व्यवहार की नब्बे प्रतिशत से अधिक वस्तुएं छोटे उद्योगों पर तैयार की जा सकती हैं, जो अन्य चीजें बचेगी उसे बड़े कारखानों में बनाया जा सकेगा, किंतु

20. डॉ. बजरंग लाल लाल गुप्त, एकात्म दृष्टि - भारत का भवितव्य, संपादक-डॉ. चन्द्र प्रकाश सिंह, अरुंधति वशिष्ठ अनुसंधान पीठ, महावीर भवन, प्रयागराज 2010 पेज-नंबर 34-35

साधारणतः इन कारखानों में छोटे कारखानों में बनी चीजों के संग्रह और एकत्रीकरण की ही आवश्यकता पड़ेगी।'[21] 'मोटर आदि बड़ी-बड़ी चीजें हैं उनके बहुत से भाग किस प्रकार लघु उद्योग में तैयार किए जा सकते हैं जापान में इस दृष्टि से बहुत काम हुआ है। वहाँ रेलगाड़ियां बनाने में 77%, जहाज बनाने में 70%, मोटर के निर्माण में 62% इन छोटे उद्योगों द्वारा तैयार सामान प्रयोग होता है।[22]

दीनदयाल जी ने अपनी पुस्तक में ग्रामीण कुटीर उद्योगों का काल के अनुसार वर्गीकरण किया है, जो निम्नवत है।[23]

- अंशकालिक ग्रामीण कुटीर उद्योगों के अंतर्गत वे सभी उद्योग आते हैं जिनमें कृषक खाली समय का उपयोग करता है, जैसे-रस्सी बटना, हाथकरघा, कोश कृमिपालन, डलिया बनाना आदि।
- पूर्णकालिक ग्रामीण कुटीर उद्योगों में बढ़ई, लुहार, कुम्हार, तेली आदि के काम आते हैं
- अंशकालिक नागरिक कुटीर उद्योगों में खिलौने, अचार मुरब्बे, कागज के लिफाफे आदि बनाने के कुछ उद्योग, किंतु अभी इस क्षेत्र में बहुत से काम प्रारंभ किये जा सकते हैं।
- पूर्णकालिक नागरिक कुटीर उद्योगों में सुनार, दर्जी, बढ़ई, हाथीदांत, बर्तन बनाने, रंगाई छपाई आदि का काम।
- अंशकालिक छोटे नागरिक उद्योग प्रायः मौसमी काम से संबंध रखते हैं, जैसे ईट बनाना आदि।
- पूर्णकालिक छोटे नागरिक उद्योगों का काफी विकास हो रहा है। इसमें होजरी के कारखाने, अभियांत्रिकी, साइकिल के पुर्जे, रेशम और सूती वस्त्र, सिलाई की मशीनें आदि अनेक चीजें बनती हैं। ये शहर की छोटी फैक्ट्रियां हैं, यद्यपि उन पर फैक्ट्री एक्ट लागू नहीं होता।
- अंशकालिक ग्रामीण लघु-उद्योग में धान कूटने, खांडसारी, गुड़ आदि का विधायन आता है।

दीनदयाल जी के इस वर्गीकरण से स्पष्ट है कि वह उद्योगों के वर्गीकरण के साथ बाजार के वर्गीकरण के पक्ष में भी हैं। बाजार का वर्गीकरण तीन स्तर पर है, पहला- ग्रामीण जीवन की मौलिक आवश्यकताएं स्थानीय बाजार से पूरी की जानी चाहिए, इन वस्तुओं का उत्पादन स्थानीय ग्रामीण स्तर पर सहजता से किया जा सकता है। अगर इन वस्तुओं की उपलब्धता गाँव के स्थानीय बाजार में नहीं है तो यह न उस गांव के लिए उचित है, न देश की अर्थव्यवस्था के लिए उचित होगा। यह गांव में जहां बेरोजगारी पैदा करेगा, वहीं पलायन को भी प्रोत्साहित करेगा। इन वस्तुओं में कृषिगत आवश्यक वस्तुएं बर्तन, फावड़ा, खुरपी, कुदाल, कुल्हाड़ी, फल-सब्जी, अनाज, अन्य

21. पंडित दीनदयाल उपाध्याय भारतीय अर्थनीति विकास की दिशा पांचवा संस्करण लोकहित प्रकाशन संस्कृति भवन राजेंद्र नगर लखनऊ 2014 पेज 128
22. वही पेज 131
23. वही पेज 129

दैनिक वस्तुएं हैं, जिनका निर्माण गांव के ही बढ़ई, कुम्हार, लोहार आदि के द्वारा किया जा सकता है।

मौलिक आवश्यकताओं से ऊपर की जो आवश्यकताएं हैं वह दूसरे स्तर की बाजार स्थानीय कस्बे या जिला मुख्यालय में उपलब्ध होनी चाहिए। आवश्यक नहीं है कि सभी आवश्यकताएं या सभी संसाधनों का उत्पादन ग्रामीण स्तर पर ही संभव हो सके, लेकिन आज के वैश्वीकरण की स्थिति में इसकी उम्मीद करना संभव नहीं है कि व्यक्ति इन-इन वस्तुओं का उपयोग नही करेगा यदि उसके पास क्रयशक्ति हो। उसके बाद तीसरे स्तर की बाजार जहाँ विलासिता सहित अन्य वस्तुएं उपलब्ध हों जिनका उत्पादन बड़े उद्योगों में ही संभव हो, उनकी उपलब्धता महानगरों में होनी चाहिए।

उद्योगों का स्वामित्व

दीनदयाल जी का उद्योगों के स्वामित्व विषय मे मानना था कि सम्पूर्ण उद्योगों के आधार लघु-छोटे उद्योगों के स्वामित्व, व्यक्तिगत स्वामित्व में रहेंगे। उनके राज्य के अधीन जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।[24] यह उद्योग लगभग कुल उद्योग के नब्बे फीसदी हैं। सुरक्षा और आधारभूत उद्योगों को राज्य के स्वामित्व में रहना चाहिए। किंतु इन क्षेत्रों में भी (सुरक्षा उद्योगों को छोड़कर जो कि राज्य के अधीन ही रहने चाहिए) यदि निजी प्रयत्नों से कुछ उद्योग स्थापित हो गये हैं तो उनका राष्ट्रीयकरण करने की आवश्यकता नहीं। यदि हम किसी वाद-विशेष में बंधे नहीं है तो राज्य के साधनों का उपयोग पुराने उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने की अपेक्षा राष्ट्र के लिए आवश्यक नए उद्योग-धंधों की स्थापना में करना अधिक अच्छा होगा।[25]

ऐसे छोटे उद्योग जहाँ पर परिवार के सदस्यों के द्वारा समस्त उत्पादन की क्रियाएँ संपन्न की जाती हैं, अर्थात ऐसे उद्योग जहां पर पूँजी के साथ श्रम और यंत्रों का प्रयोग एक ही परिवार के सदस्य करते हैं, वहां पर उद्योग के स्वामित्व को लेकर कोई समस्या नहीं है। परंतु ऐसे उद्योग जहां पर मजदूर श्रम करता है, उसी के द्वारा उत्पादन की समस्त क्रियाएं संपन्न होती हैं, हालांकि वह उद्योग में पूंजी निवेश नही करता है, लेकिन उसकी जीविका उसी उद्योग के हानि-लाभ से जुडी है और यदि वह बंद हो जाये तो उसका असर पूंजी निवेश करनेवाले से अधिक मजदूर के जीवन पर पड़ेगा। ऐसी स्थिति में दीनदयालजी का मानना है कि 'यह आश्चर्य का ही विषय है कि आजकल की संयुक्त पूंजी कंपनियों में एक शेयर होल्डर, जो बहुधा किसी उद्योग से लाभांश के अतिरिक्त और कुछ संबंध नहीं रखता, स्वामित्व के अधिकार का उपयोग करे और जो मजदूर उस कारखाने में बराबर काम करता है, वास्तविक रूप से कलों को सक्रिय बनाता है तथा जिसकी पूरी जीविका उस उद्योग के भले-बुरे पर निर्भर है, सदैव ही परायापन अनुभव करता रहे। निःस्पृहता की यह भूमिका ठीक नहीं। अतः आवश्यक है कि अंशधारी के साथ मजदूर को भी

24. पंडित दीनदयाल उपाध्याय भारतीय अर्थनीति विकास की दिशा पांचवा संस्करण लोकहित प्रकाशन संस्कृति भवन राजेंद्र नगर लखनऊ , पेज 137

25. वही पेज 138

स्वामित्व के अधिकार प्राप्त हों तथा उसे लाभ और प्रबंध में भागीदार बनाया जाय। इस प्रकार श्रमिकों के प्रतिनिधि संचालक मंडल में रहेंगे।[26]

महात्मा गांधी के बाद दीनदयाल जी ने भी भारत की औद्योगिक नीति के लिए लघु उद्योग की महत्ता पर प्रकाश डाला, हालांकि गांधीजी के कई औद्योगिक विचारों में दीनदयाल जी देशानुकूल और युगानुकूल परिवर्तन करते दिखाई पड़ते हैं। लेकिन प्रश्न यह है कि दीनदयाल जी द्वारा पांच दशक पहले दिये गए सुझाव क्या तात्कालिक सरकार ने गंभीरता से लिया, अगर नहीं लिया तो उसके परिणाम क्या रहे? आजादी के बाद मिश्रित अर्थव्यवस्था के मॉडल पर देश आगे बढ़ रहा था। शुरुआती दौर पर औद्योगिक नीतियां समाजवादी मॉडल पर थी अर्थात सरकार ने औद्योगिक क्षेत्र पर बड़े निवेश और संयंत्रों की स्थापना की, लेकिन लघु एवं कुटीर उद्योगों के विषय में तत्कालीन सरकार की कोई रुचि नहीं थी। फलतः बड़े उद्योगों के बीच लघु उद्योग अपने अस्तित्व के लिए निरंतर संघर्ष कर रहे थे। अस्सी के दशक में ही देश को अनेक उद्यमों को बेचने के लिए सरकारों को विनिवेश नीति बनानी पड़ी। इसके बाद बीसवीं सदी के अंतिम दशक में भारत में उदारीकरण, भू-मंडलीकरण और निजीकरण के मॉडल को अपनाया। इस दौरान भी देश की औद्योगिक नीति से लघु एवं कुटीर उद्योग मंत्रालय तो था लेकिन छोटे उद्योगों के लिए कोई ठोस नीति नहीं बनायी गयी। भू-मंडलीकरण के दो दशक में ही देश की औद्योगिक विकास दर 10 फ़ीसदी से भी आगे चली गई। देश की विकास दर ने भी तेजी से उछाल मारा, इस दौरान देश में अरबपतियों की संख्या में भी बढ़ोत्तरी हुई, परंतु इसी दौरान आंकड़ों में कुछ चिंताजनक था। भू-मंडलीकरण के बाद से देश में किसान आत्महत्या करने लगे। सभी आर्थिक आंकड़े यह बताते हैं कि विकास रोजगार विहीन था। देश में बेरोजगारी एक बड़े संकट के रूप में दिखाई देने लगी। इन्हीं दो दशकों में देश में पलायन तेजी से बढ़ने के कारण गाँव वीरान हो गये। इसी दौरान देश में पूंजी निवेश को बढ़ाने के लिए बड़े-बड़े पूंजीपतियों को देश के वाणिज्यिक बैंकों द्वारा भारी मात्रा में ऋण दिया गया। इससे एक ओर देश महंगाई बढ़ी तो दूसरी ओर इन्ही औद्योगिक नीति ने देश को विजय माल्या, नीरव मोदी और मेहुल चौकसी दिये। यह सभी बातें इस बात का प्रमाण हैं कि दीनदयाल जी के विचार तब भी प्रासंगिक थे आज भी हैं।

26. वही पेज 140

हिन्दू एक दृष्टि

ओम प्रकाश मिश्र[1]

अभ्युदय और निःश्रेयस, ऐहिक और पारलौकिक सुख सिद्ध करने के लिए समाज की धारणा करने वाले लोकाचरण को तत्वज्ञों ने 'धर्म' बताया है। धर्म से तात्पर्य है अभ्युदय व निःश्रेयस की प्राप्ति के साथ समाज व्यवस्थित, एकसूत्रबद्ध एवं सुखी होने के लिए सन्नद्ध हो। धर्म की भावना मनुष्य को पशुत्व से मानवत्व की ओर तथा मानवत्व से मोक्ष की तरफ बढ़ने की प्रेरणा व अकांक्षा जगाती है। समस्त संसार की शान्ति एवं मानवता के विकास के लिए मनुष्य संस्कारवान व धर्मनिष्ठ बनाने की प्रक्रिया धर्म है।

धर्म से तात्पर्य यहाँ पर वर्तमान में प्रयोग किए जाने वाले 'Religion' शब्द से नहीं है। रिलिजन का अर्थ सम्प्रदाय या एक पूजा पद्धति मात्र है। धर्म के अर्न्तगत सृष्टि की रचना का मूल एकतत्व या एकात्म की अवधारणा है। जो कुछ भिन्नता दृष्टिगत होती है, वह केवल बाहरी स्वरूप में है। जब यह स्वीकार कर लेते हैं कि सबकी आत्मा एक ही है, तो कौन किसे समाप्त करने का प्रयास करेगा? जब मनुष्य स्वयं समस्त विश्व को अपना कुटुम्ब मानेगा तो विद्वेष का स्थान नहीं रहेगा।

हमारे राष्ट्र में धर्म इतना प्रखर था कि समस्त प्रजाजन परस्पर रक्षण/संरक्षण करने में समर्थ थे।

''न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम''[2]

अर्थात न पहले कोई राज्य था, न राजा, न दण्ड था और न दण्ड देने वाला, समस्त प्रजा धर्म के द्वारा ही एक दूसरे की रक्षा करती थी।

'धर्म' शब्द की उत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है। जिसका सामान्य अर्थ है 'धारण करना' समझा जा सकता

---

1. निवर्तमान वरिष्ठ रेल अधिकारी, भारतीय रेलवे एवं पूर्व प्राध्यापक, अर्थशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, वर्तमान में अधिवक्ता हैं। (66 इरवो संगमवाटिका, देवप्रयागम, झलवा, प्रयागराज-उ.प्र.)

2. महाभारत : शान्तिपर्व-59/14

है। धर्म को ऋत शब्द के समानार्थी माना जाता है। वैदिक संहिताओं में ऋत शब्द का प्रयोग अधिकांशतः किया गया है।

धर्म को केवल मनुष्यों के लिए समझना उचित नहीं है। प्रख्यात विचारक रंगाहरि जी ने अपनी पुस्तक धर्म और संस्कृति (एक विवेचना) में उल्लेख किया है-

''धर्म मात्र मानव जाति से संबंधित शब्द नहीं है। धर्म से सम्पूर्ण सृष्टिजाल आबाधित है। समस्त चर-अचर, सचेतन-अचेतन अपने अस्तित्व के लिए धर्म पर आश्रित हैं। उसी में उसका अपनापन है। उस दृष्टि से बताया जाता है कि जल का अपना धर्म, अग्नि का अपना धर्म और पवन का अपना धर्म है। उसके बिना उसका अस्तित्व समाप्त होता है और दुनिया से उसकी पहचान भी। जैसे कि अग्नि का धर्म है उष्णता। यदि कोई अग्नि के समान आकारवाली चीज और उसमें उष्णता नहीं केवल प्रकाश है, तो हम कहेंगे कि अग्नि नहीं। पवन का धर्म है चंचलता। यदि पवन अपना धर्म छोड़कर एक ही स्थान पर बिना हलचल के स्थिर रहता है तो उसको पवन कौन कहेगा? पृथ्वी का धर्म है सबको आधार देना। उसी कारण उसको धरा, धारित्री, वसुन्धरा ऐसे कहते हैं। अगर उसने अपना धर्म छोड़ दिया तो ये सारे शब्द अर्थ हीन हो जाएंगे। जीवमान प्राणियों का भी अपना-अपना धर्म है। उसी मापदण्ड से उसे पहचाना जाता है।''[3]

धर्म चूँकि सबको धारण करता है, इसलिए उसे धर्म कहा गया। महाभारत में शान्तिपर्व में उल्लेख है कि पितामह भीष्म, धर्मराज युधिष्ठर को बतातें हैं किः-

धरणाद् धर्ममित्याहु धर्मेण विधृता प्रजाः।

यः स्याद् धारणा संयुक्तः सः धर्म इति निश्चयः।।[4]

अर्थात् 'धर्म' का नाम धर्म इसलिए पड़ा कि वह सबको धारण करता है-अधोगति में जाने से बचाता है और जीवन की रक्षा करता है। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है, अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता है, जो सबको जोड़ता है वही धर्म है, ऐसा धर्म वेत्ताओं का निश्चय है।

भारत के उच्चतम् न्यायालय का आधार सूत्र है-

'यतोधर्मस्ततो जयः' अर्थात् जहाँ धर्म है वहीं विजय है। यह महाभारत में 10 से अधिक बार प्रयुक्त हुआ। यह भारतीय न्याय व्यवस्था का आधार माना जाना चाहिए।

'हिन्दू' धर्म कोई उपासना पद्धति मात्र नहीं है। भारतीय परम्परा में धर्म व्यापक अर्थ समेटे हुए है। धर्म हमारी भारतीय परम्परा में एक मानव दर्शन है, पूरी की पूरी परम्परा जीवन-पद्धति, हमारी संस्कृति का बोध कराती है। कुछ लोग हिन्दूवाद (Hinduism) को हिन्दुत्व का पर्यायवाची समझते हैं। वस्तुतः भारतीय जीवन पद्धति जिन गुणों

3. धर्म और संस्कृति (एक विवेचना) : रंगाहरि - लोकहित प्रकाशन, लखनऊ, पृष्ठ-11

4. महाभारत शान्तिपर्व - 11/109

को समेटे हुए है, ये धर्म परिलक्षित करतें हैं। धर्म का स्थान हिन्दू जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो या नो धर्मो हतोऽवधीत।[5]

अर्थात नष्ट हुआ धर्म ही नाश का कारण बनाता है और रक्षित किया गया धर्म ही रक्षा करता है। नाश को प्राप्त हुआ धर्म कहीं हमें नष्ट न कर दे, इसलिए धर्म का कभी भी नाश नहीं करना चाहिए।

हिन्दू जीवन दर्शन अखिल विश्व के लिए है, संकीर्णता का कहीं नामोनिशान नहीं है। हमारे यहाँ सभी के कल्याण, पूरे जगत के कल्याण का लक्ष्य रखा गया है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः
सर्वे भद्राणि पश्यन्तुः मा कश्चित दुःख भाग भवेत्।[5]

अर्थात सभी सुखी हो, सभी स्वस्थ्य रहें, सबका सर्वोतोमुखी कल्याण हो और किसी को किसी भी प्रकार का दुःख न हो। आगे चलकर इसी को रामराज्य में परिभाषित किया गया है।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज्य काहुहिं नहीं व्यापा।
सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती।।
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अध नाहीं।।[6]

अर्थात 'रामराज्य में शारीरिक, दैवीय व सांसारिक कष्ट किसी को नहीं होते। सभी मनुष्य एक दूसरे के प्रति परस्पर प्रेम का भाव रखते हैं एवं वेदों में बतायी हुई नीति (मर्यादा) में तत्पर रहकर अपने-अपने धर्म का पालन करतें हैं। धर्म अपने चारों चरणों (सत्य, शौच, दया और दान) से जगत में परिपूर्ण हो रहा है, स्वप्न में भी कहीं पाप नहीं है। अतः हम देखते हैं कि अत्यन्त प्राचीन काल से जिस जीवन मूल्य, परम्परा, दर्शन, सभ्यता का हिन्दू विचार सरणि में प्रकाश मिलता है वह समस्त जगत के लिए है।

भारतीय परम्परा में आदि ग्रन्थ ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 164 सूक्त के 46वें मन्त्र में ऐसा उल्लेख है-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुर्स्थो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।[7]

अर्थात् इन्द्र, मित्र वरुण और अग्नि परमात्मा के ही नाम हैं। वह परमात्मा ही गुरुत्मान और सुपर्ण कहलाता है। उस एक ही सत्य को विद्वान् लोग अग्नि, यम, मातरिश्वा अनेक नामों से पुकारते हैं।

5. मनुस्मृति अष्टम अध्याय, श्लोक 15
5. शांतिमत्र : वृहदारण्यक उपनिषद
6. 21/1-2, उत्तरकांड रामचरित मानस
7. ऋग्वेद 1/164/46

यानी भारतीय परम्परा में व्यापकता है, बहुलतावाद है, प्रगाढ़ता है, समावेशी जीवन पद्धति है, ऋग्वेद के उपरोक्त श्लोक से स्पष्ट है कि सत्य तो सदैव एक ही है, भिन्न-भिन्न ज्ञानी लोग उसे नाना प्रकार से व्याख्यायित करते हैं। यह हिन्दुओं का दृढ़ विश्वास है कि ईश्वर प्राप्ति के अनेकों मार्ग उपलब्ध हैं यानी 'हिन्दू' धर्म किसी अन्य धर्म को खारिज नहीं करता वरन सबके साथ समावेशी रूप से मिला-जुला है। हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों की कुछ महत्वपूर्ण अवधारणाएं व वैशिष्टय हैं यथा-

1. विश्वबन्धुत्व।
2. समन्वयवादी व समतावादी दृष्टि।
3. एकात्म व एकत्व का दर्शन।
4. आत्मा अजर अमर है।
5. हिन्दू धर्म का कोई एकमात्र आधारभूत ग्रंथ नहीं है वरन् धर्मग्रन्थों की पूरी श्रृंखला है।
6. धर्म की रक्षा हेतु प्रभु या ईश्वर बारंबार अवतार लेते हैं।
7. मध्यम मार्ग ही श्रेष्ठ है।
8. परोपकार महान मानवीय गुण है।
9. सत्यान्वेषी।
10. वैज्ञानिक दृष्टि।
11. पर्यावरण प्रेमी।
12. विचारों की स्वतंत्रता।
13. कुटुम्ब व्यवस्था।
14. अतिथि देवोभव।

महर्षि अरविन्द ने 30 मई 1909 को धर्म रक्षणी सभा में एक ऐतिहासिक भाषण दिया था, जिसे उत्तरपाड़ा भाषण के नाम से जाना जाता है। इसमें महार्षि अरविन्द जी कहते हैं-

''धर्म का संरक्षण, दुनिया के सामने हिन्दू धर्म का संरक्षण और उत्थान-यही कार्य हमारे सामने है। परन्तु हिन्दू धर्म क्या है? वह धर्म क्या है जिसे हम सनातन धर्म कहते हैं? वह धर्म हिन्दू धर्म इसी नाते है कि हिन्दू राष्ट्र ने इसको रखा है, क्योंकि समुद्र और हिमालय से घिरे हुए इस प्रायद्वीप के एकान्तवास में यह फला-फूला है, क्योंकि इस पवित्र भूमि पर इसकी युगों तक रक्षा करने का भार आर्य जाति को सौंपा गया था। परन्तु यह धर्म किसी एक देश की सीमा से घिरा नहीं है। यह संसार के किसी सीमित भाग के साथ विशेष रूप से और सदा के लिए बंधा नहीं है। जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं, वह वास्तव में सनातन धर्म है, क्योंकि यही वह विश्वव्यापी धर्म है जो दूसरे सभी धर्मों का आलिंगन करता है। यदि कोई धर्म विश्वव्यापी न हो तो वह सनातन भी नहीं हो सकता है। संकुचित धर्म, सांप्रदायिक धर्म, अनुदार धर्म केवल कुछ काल और मर्यादित हेतु के लिए ही रह सकता है..... आज

मैं यह नहीं कह सकता कि राष्ट्रीयता एक विश्वास है, धर्म एक निष्ठा है, बल्कि मैं यह कहता हूँ कि सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रीयता है। यह हिन्दू सनातन धर्म को लेकर ही पैदा हुआ है,उसी को लेकर चलता है, उसी को लेकर पनपता है। जब सनातन धर्म की हानि होती है तब इस राष्ट्र की अवनति होती है और यदि सनातन धर्म का विनाश सम्भव होता तो सनातन धर्म के साथ ही इस राष्ट्र का विनाश हो जाता। सनातन धर्म ही राष्ट्रीयता है।[8]

ठीक इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द जी ने शिकागो धर्म महासभा में सितम्बर 1893 में विश्व प्रसिद्ध भाषण दिया था, जिसमें उन्होंने हिंदुत्व के आधारभूत तत्वों पर प्रकाश डाला था-

'वहाँ भारत में एक के बाद एक न जाने कितने सम्प्रदायों का उदय हुआ और उन्होंने वैदिक धर्म को जड़ से हिला दिया, किन्तु भयंकर भूकम्प के समय समुद्रतट के जल के समान वह कुछ समय पश्चात् हजार गुना बलशाली होकर सर्वग्रासी आप्लावन के रूप में पुनः लौटने के लिए पीछे हट गया और जब वह सारा कोलाहल शान्त हो गया तब इन समस्त धर्म सम्प्रदायों को उनकी धर्ममाता (हिन्दू धर्म) की विराट काया ने चूस लिया, आत्मसात कर लिया और अपने में पचा डाला।'

'वेदान्त दर्शन की अत्युच्च आध्यात्मिक उड़ानों से लेकर आधुनिक विज्ञान के नवीनतम आविष्कार जिसकी केवल प्रतिध्वनि मात्र प्रतीत होते हैं, मूर्तिपूजा के निम्नस्तरीय विचारों एवं तदानुषंगिक अनेकानेक पौराणिक दन्तकथाओं तक और बौद्धों के अज्ञेयवाद तथा जैनों के निरीश्वरवाद-इनमें से प्रत्येक के लिए हिन्दू धर्म में स्थान है' ..... हिन्दू जाति ने अपना धर्म श्रुति-वेदों से प्राप्त किया है। उनकी धारणा है कि वेद अनादि और अनन्त हैं। श्रोताओं को सम्भव है, यह बात हास्यपद लगे कि कोई पुस्तक अनादि और अनंत कैसे हो सकती है? किन्तु वेदों का अर्थ कोई पुस्तक है ही नहीं। वेदों का अर्थ है भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा अविष्कृत आध्यात्मिक सत्यों का संचित कोष'। ..... 'इन नियमों या सत्यों का आविष्कार करने वाले 'ऋषि' कहलाते हैं और हम उनको पूर्णत्व तक पहुँची हुई आत्मा मानकर सम्मान देते हैं। श्रोताओं को मुझे यह बतलाते हुए हर्ष होता है कि इन महानतम ऋषियों में कुछ स्त्रियाँ भी थीं'। ..... 'वेदों की घोषणा है- नहीं, मैं शरीर में रहने वाली आत्मा हूँ, मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर मर जाएगा पर मैं नहीं मरूंगा। मैं इस शरीर में विद्यमान हूँ और जब इस शरीर का पतन होगा, तब भी मैं विद्यमान रहूँगा ही।'

..... 'अतएव हिन्दू का यह विश्वास है कि वह आत्मा है। उसको शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, जल भिगों नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकती। हिन्दुओं की यह धारणा है कि आत्मा एक ऐसा वृत्त है, जिसकी परिधि कहीं नहीं है, किन्तु जिसका केन्द्र शरीर में अवस्थित है और मृत्यु का अर्थ है, इस केन्द्र का एक शरीर दूसरे शरीर में स्थानांतरित हो जाना। यह आत्मा जड़ की उपलब्धियों से बद्ध नहीं है। यह स्वरूपतः नित्य शुद्ध, बुद्ध मुक्त स्वभाव है।''[9]

8. पृष्ठ 71, 72, 73, श्री अरविन्द का राष्ट्र आह्वान : सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 71, 72, 73

श्रीमद भगवद् गीता में-

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।[10]

अर्थात् आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता।

वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों, श्रीमदभगवद्गीता आदि प्राचीन ग्रन्थों में जिस हिन्दू धर्म के स्वरूप का चित्रण उपलब्ध है, उसके अध्ययन, मनन, विश्लेषण के आधार पर भारत के क्रान्तिकारी विनायक दामोदर सावरकर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दुत्व' में हिन्दुत्व को इस प्रकार से परिभाषित किया है- ''अतः प्रत्येक व्यक्ति हिन्दू है, जो असिन्धु सिन्धुपर्यन्त इस समग्र देश को अपनी पितृभूमि के रूप में मान्यता देकर वन्दना करता है, जिसकी धमनियों में उस महान जाति का रक्त प्रवाहित हो रहा है, जिसका मूल सर्वप्रथम सप्त सिन्धुओं में परिलक्षित होता है और जो विश्व में हिन्दू के नाम से सुविख्यात है। जो भी व्यक्ति हिन्दू जाति को अपनी जाति और हिन्दुस्तान को अपनी संस्कृति के रूप में मान्यता देता है जो संस्कृति समान इतिहास, समान परम्परा, समान साहित्य, समान शिल्पशास्त्र, समान धर्मशास्त्र, समान पर्व व उत्सवों के माध्यम से अभिव्यक्ति होती है। ..... इस भाति हिन्दुत्व की तीन बातों अर्थात एक राष्ट्र, एक जाति तथा एक संस्कृति की दृष्टि से वे हिन्दू हैं। ..... अतः हिन्दू धर्म का तात्पर्य उस धर्म अथवा उन धर्मों से है जो इस देश एवं इस जाति के सहोदर हैं। इन विभिन्न धर्म सिद्धान्तों और आचार व्यवहारों में हमें यदि कोई समन्वय परिलक्षित न हो तो यही कहना होगा कि हिन्दू धर्म कोई सामान्य धर्म न होकर ऐसे अनेक धर्मों एवं सम्प्रदायों का समूह है जिन सम्प्रदायों में परस्पर भिन्नता ही नहीं अपितु विरोधाभास भी विद्यमान है। ..... वस्तुतः हिन्दू धर्म किसी धर्म सम्प्रदाय का नाम न होकर उन सभी सम्प्रदायों का समष्टिगत रूप है जो अपने आपको हिन्दू नाम से सम्बोधित करते हैं। परन्तु हिन्दू धर्म, इस शब्द का प्रयोग उस धर्म सम्प्रदाय हेतु ही होता आया है जिसे हिन्दुओं का बहुमत स्वीकार करता है। ..... हिन्दुओं में अधिकांश व्यक्ति 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त धर्म' अथवा जिसे सनातन धर्म की संज्ञा दी जाती हैए उसे ही धर्म के रूप में मान्यता देते रहे हैं। ..... अथवा यों कह लीजिए कि यह प्रत्यक्ष धर्म का अनुभवसिद्ध शास्त्र है और इसी का नाम है हिन्दू धर्म। वैदिक सनातनी, जैन और सिक्ख आदि सभी मतान्तरों का एकीकरण करने के उपरान्त जो सत्य और निर्णायक तत्व उद्भूत हुए हैं, उन सब तत्वों की सत्यता को हिन्दू धर्म की पावन संज्ञा प्राप्त हुई है। जितने भी धर्म सिद्धान्त और धार्मिक सम्प्रदाय सप्तसिन्धु नाम से सुविख्यात इस भूखण्ड में तथा भावी विराट सिन्धुस्थान अथवा हिन्दुस्तान में उत्पन्न हुए उन सबका अन्तर्भाव हिन्दू धर्म में ही होता है।

असिन्धु सिन्धुपर्यंत यह हमारा देश, यह हिन्दुस्थान हमारी मातृभूमि है। इसका कारण यह है कि इसी भूमि

9. विवेकानन्द साहित्य संचयन : रामकृष्ण मठ, नागपुर, पृष्ठ 3, 4, 5 एवं 6

10. श्रीमदभगवद् गीता - 2/3

में हमारे धर्म प्रवर्तकों ने जन्म ग्रहण किया और इसी भूमि में हमारे ये ऋषि उत्पन्न हुए थे जिन्होंने वेद मंत्रों को सर्वप्रथम सुना था। इन वैदिक ऋषियों से ऋषि दयानन्द पर्यन्त, जिन से महावीर तक, बुद्ध से नागसेन तक, नानक से गोविन्द और बन्दावैरागी से वासव तक,चन्द्रधर से चैतन्य पर्यन्त एवं समर्थ स्वामी रामदास से राममोहन राय तक हमारे सभी गुरुओं और महापुरुषों का यही देश जन्मभूमि तथा कर्मभूमि है। इस भूमि के प्रत्येक रजकण में उनकी पदचाप प्रतिध्वनित हो रही है। इस भूमि की प्रत्येक सरिता पावन है और उसने इसके वन सम्पदा के संवर्धन में योगदान दिया है। हमारे महान पूर्वजों और ऋषि-मुनियों ने इन्हीं सरिताओं के तट पर बैठकर, तरुलता कुंजों की शीतल छाया तले ध्यानमग्न होकर मानवीय जीवन, आत्मा, परमात्मा एवं ब्रह्म तथा माया सरीखे गूढ़तम रहस्यों का विवेचन किया है। इस भूमि की प्रत्येक गिरि कन्दरा में कपिल और कणाद व्यास और बुद्ध तथा शंकराचार्य और समर्थ रामदास की स्मृति समीर प्रवाहित हो रहा है। ..... यही नहीं अपितु कश्मीर से कन्याकुमारी पर्यंत यह सम्पूर्ण भारत भूमि ही यज्ञ भूमि है, जिसे ज्ञान और आत्मयज्ञ की पावन अग्नि ने पतितपावनी बना दिया है। जननी जन्मभूमि! तेरा कण-कण ही यज्ञ भूमि बन गया है। अतः हे भारतभूमि! सिन्धुस्थान! तू प्रत्येक हिन्दुजन की पितृभूमि है।[11]

यदि महर्षि अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द और वीर सावरकर के विचारों पर मंथन किया जाए तो यह स्थापित हो जाता है कि हिन्दुत्व हिन्दू धर्म मात्र नहीं है वरन् यह समस्त भारतीय मूल्यों एवं राष्ट्रीयता के भाव को भी अपने में समेटे हुए है।

भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने अपने एक निर्णय में उल्लेख किया है कि-'जब हिन्दू सम्प्रदाय के बारे में विचार करतें हैं तो हमें कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यदि यह असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है कि हिन्दू सम्प्रदाय को परिभाषित कर पायें। विश्व के अन्य सम्प्रदायों की भाँति हिन्दू सम्प्रदाय का कोई एक देव दूत (पैगम्बर) नहीं है, इसमें किसी एक ही देव की पूजा नहीं की जाती, इसकी कोई एक रुढ़िवादी पहचान नहीं है। यह एक किसी दार्शनिक विचार-पद्धति में विश्वास नहीं करता, यह किसी एक ही प्रकार के पांथिक अनुष्ठान का अनुयायी नहीं है, वास्तव में इस पर किसी संप्रदाय या मत के पारंपरिक संकीर्ण लक्ष्य पूरे उतरते नहीं दिखाई देते। इसे मुख्य रूप से एक जीवन पद्धति ही कहा जा सकता है, इसके अतिरिक्त कुछ और नहीं। ..... इसी कारण हिन्दुत्व सभ्यता भी है और धर्मपंथों का एक विराट संपुंजन भी। उसका कोई एक संस्थापक नहीं है, कोई एक केन्द्रीय अथारिटी (अधिकारी संस्था) नहीं है, विविध पंथों के बीच कोई ऊँच-नीच की क्रम व्यवस्था निर्धारित नहीं है और कोई एक केन्द्रीय संगठन नहीं है। इसलिए हिन्दुत्व की विशिष्ट परिभाषा का प्रत्येक प्रयास किसी न किसी रूप में अपर्याप्त सिद्ध हुआ है और होता है, क्योंकि हिन्दुत्व के सर्वोत्तम भारतीय विद्वानों ने एक ही अखण्ड सत्ता के विविध पक्षों की सत्ता पर सदा बल दिया है। ..... माननीय न्यायाधीशों ने निष्कर्ष निकाला है कि हिन्दुत्व शब्द का कोई संकीर्ण अर्थ समझना आवश्यक नहीं है। उसे केवल हिन्दू धार्मिक अनुष्ठानों या रीतियों तथा व्यवहारों तक सीमित करके संस्कृति से असंबंद्ध रूप में देखना आवश्यक नहीं है। यह तो भारतीय जन की जीवन शैली है। जब तक

11. हिन्दुत्व : विनायक दामोदर सावरकर - हिन्दी साहित्य सदन, नई दिल्ली, पृष्ठ 96 से 108

हिन्दुत्व शब्द का किसी भाषण में इससे विपरीत अर्थ में प्रयोग न किया गया हो, तब तक हिन्दुत्व का प्रमुख अर्थ है- भारतीय जन (लोगों) की जीवन शैली, न कि किसी हिन्दु पंथ के लोगों के रीति-रिवाज मात्र।[12]

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर हम सुगमता पूर्वक इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि हिन्दुत्व इस राष्ट्र के संस्कृति मय अस्तित्व को सुरक्षित रखता है, क्योंकि भारतीय संस्कृति जिसे हमारे ऋषियों ने बताया है -

यत्ते मध्यं प्रथिवि यच्च नभ्यं यास्त उर्जस्तन्वऽः संबभूवुः।
तसु नो धेहयभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।।
पर्जन्यः पिता स उनः पिपर्तु।।[13]

अर्थात्- हे भारत भूमि! तेरे भीतर और ऊपर जो पदार्थ हैं उन सब की ओर तेरी, शत्रुओं के हाथ से रक्षा करने के लिए जो विद्वान, बलवान और धनवान मनुष्य एकत्र होकर यत्न करतें हैं, उनसे उस संघ से हमें स्थान दे और हमारी रक्षा कर, क्योंकि तू हमारी माता है और हम तेरे पुत्र दुःख से छुड़ाने वाले हैं, इस पर्जन्य (मेघ) द्वारा धान्यादिक उत्पन्न होते हैं, इसलिए हम सबका पिता (पालक) है, यर्थाथ में वह नियमित समय में वर्षा कर हमारी रक्षा करे।

हिन्दुत्व के विषय में अनेकों कारणों से बहुत सारी भ्रान्तियाँ फैलाई गई हैं, परन्तु यदि भारतीय जीवन पद्धति को निकट से देखा जाए तो मनुष्य मात्र को पशुभाव से उठाकर देव भाव तक पहुँचाने की साधना के सोपान के रूप में हम हिन्दुत्व की व्याख्या कर सकते हैं। भारतीय जीवन पद्धति पशु-पक्षियों , पर्वतों, नदियों, वृक्षों, लताओं सभी में देवत्व के दर्शन करती है और अपनी मातृभूमि की सुगन्ध को महसूस कराती है। विभिन्न भाषा शैली और क्षेत्रगत विभिन्नताओं के बावजूद हमारी प्राचीन परम्पराएं, सुदृढ़ रहीं हैं। हमारे यहाँ पुत्रधर्म, मातृधर्म, गुरुधर्म और आपद धर्म तक की चर्चा है। हिन्दुत्व भारत राष्ट्र की अस्मिता से जुड़ा है। हमारा लक्ष्य क्षुद्र व्यक्तिगत लाभ न होकर सार्वजनीन कल्याण का भाव उदय करना है।

जैसा कि महा उपनिषद में उल्लेखित है-

अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु बसुधैव कुटुम्बकम्।[14]

यह मेरा बन्धु है यह नहीं है, ऐसे विचार क्षुद्र मानसिकता वाले व्यक्तियों के ही होते हैं। जो उदार चरित के व्यक्ति होते हैं, उनके लिए तो सम्पूर्ण विश्व एक परिवार है)

12. सर्वोच्च न्यायालय का ऐतिहासिक निर्णय हिन्दुत्व एक जीवन पद्धति : सुरुचि प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 9, 14
13. अथर्ववेद, काण्ड 12, श्लोक 12

हिन्दुत्व के विषय में प्रसिद्ध विचारक सुब्रह्मण्यम स्वामी के विचार उल्लेखनीय हैः-

''हिन्दुत्व की संकल्पना मोटे तौर पर आध्यात्म आधारित भारतीय लोकाचार से प्रत्यक्षतः जुड़ी हुई है। यह अनेक महान ऋषि-मुनियों, योगियों, सन्यासियों द्वारा प्रतिपादित लोकाचार या जीवन पद्धति है, जो अलग-अलग होकर भी एक केन्द्रीय सूत्र से बंधी है।''[15]

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिन्दुत्व हमारी भारतीय संस्कृति, सभ्यता और जीवन पद्धति का ऐसा आधार है जिसके आधार पर राष्ट्र अनेकों झंझावातों, संकटों से निकलने या अपनी अस्मिता को सुरक्षित रखने में समर्थ हो सका है। वस्तुतः हिन्दुत्व का भाव राष्ट्रवाद की आत्मा है और समस्त विश्व के कल्याण के साथ ही अपने राष्ट्र, अपने समाज, अपने परिवार और व्यक्तिगत आंकाक्षाओं तक की अभिवृद्धि की संकल्पना है, जिसमें ये सारी दृष्टियाँ एकत्व को प्राप्त होती हैं। पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के एकात्म मानववाद के विचार से, जिसे सरलता पूर्वक समझा जा सकता है, जिसमें व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, अखिल विश्व एवं समस्त मानवता के मध्य किसी प्रकार का कोई लक्ष्य भ्रम नहीं होगा। व्यष्टि एवं समिष्ट के लिए सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् तीनों लक्ष्यों को एक साथ प्राप्त किया जा सकता है।

हिन्दुत्व कोई जड़ विचार नहीं है यह वेदों के काल से आज तक विभिन्न ऋषियों, मुनियों, विचारकों के विचारों को आत्मसात करते हुए विकसित हुआ है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में राष्ट्र एवं समस्त विश्व को इसकी महती आवश्यकता है।

14. महोपनिषद, 6/71

15. हिन्दुत्व एवं राष्ट्रीय पुनरुत्थान : डॉ. सुब्रहमण्यम स्वामी, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 32

संचार माध्यम और भारतीय संस्कृति

अशोक मेहता[1]

राष्ट्र की समस्याओं को सामने लाना और सामाजिक समस्याओं पर विचार-विमर्श करना संचार माध्यमों का कर्त्तव्य है और इसीलिए संचार माध्यमों को लोकतंत्र का एक प्रमुख स्तम्भ कहा जाता है।

वर्ष 1700 में ''द बंगाल गजट'' से शुरू होकर आज बीसियों हजार समाचार-पत्र, पत्रिकायें प्रकाशित हो रही हैं। इस संख्या में हजारों टीवी चैनल्स एवं सामूहिक सामाजिक माध्यमों को (Mass Social Media) अगर जोड़ दें तो संचार माध्यमों का अपना स्वछन्द राज है।

भारत की लगभग 135 करोड़ की आबादी के पास 85 करोड़ मोबाइल हैं जिसके कारण एक प्रकार से व्यक्तिगत संचार माध्यम का एक समानांतर एवं व्यापक तंत्र खड़ा हो गया है। भले ही उसमें विश्वसनीयता और उत्तरदायित्व का अभाव हो। दूसरी तरफ बहुतायत पारंपरिक संचार माध्यमों के भी सरकार और व्यवसायिक जगत के लिए काम करने का आभास होता है। राजनेता व धनाढ्य वर्ग अपने पक्ष में संचार माध्यमों को चलाने में सफल रहे हैं। संचार माध्यमों पर जितनी भी प्रतिक्रियाएँ आती हैं वह जब राजनीति से प्रेरित होती हैं तब सत्य-असत्य टी.आर.पी. बचाने की चिंता में खो जाता है।

भूतकाल में इसका मूल कारण सत्ता पक्ष की दमनशील मानसिकता रही है। उदाहरणार्थ आज़ादी की लड़ाई के दौरान इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाले समाचारपत्र 'स्वराज्य' के नौ संपादकों को देशद्रोह के आरोप में जेल हुई। परिणामस्वरूप उसके संपादक पद के लिए निकले एक विज्ञापन में कहा गया कि हर संपादकीय के लिए दो सूखी रोटियां, एक गिलास पानी और 10 साल की जेल प्राप्त होगी।

स्वतंत्रता संग्राम के दौरान पत्रकारिता की मूल प्रवृत्ति और प्रकृति साम्राज्यवाद विरोधी उपकरण के रूप में थी। परिणामस्वरूप पत्रकारों एवं स्वतंत्रता-सेनानियों में पूर्णतः साम्य था। भारतीय पत्रकारिता ने विविध एवं विकेंद्रित रूप में इस युग में अपनी प्रभावी भूमिका स्थापित की थी। साम्राज्यवाद भारतीय बौद्धिकता को न तो दबा पाया और न ही उसके मनोबल को कम कर पाया।

1. वरिष्ठ अधिवक्ता, उच्च न्यायालय इलाहाबाद, पूर्व अतिरिक्त महान्यायवादी, भारत सरकार

बौद्धिक विमर्श में आधिपत्य की लड़ाई अस्वाभाविक नहीं है। परन्तु आधिपत्य रखने वाले और आधिपत्य तोड़ने वाले दोनों यदि बौद्धिकता को मुखौटा बनाकर उसे व्यावसायिकता में ढालेंगे एवं प्रश्रय पाने और पीड़ित होने का लाभ पाने की आकांक्षा रखेंगे तो वह बौद्धिकता निष्प्रभावी और पीढ़ियों के लिए अस्वीकार्य होगी।

संचार माध्यमों पर विचार-विमर्श को पूर्वाग्रह से मुक्त होना चाहिए। संचार माध्यम समाज में बदलाव के माध्यम हैं और उसकी स्वतंत्रता, उसकी विश्वसनीयता द्वारा ही सुनिश्चित हो सकती है। संचार माध्यम अपनी ऐतिहासिक महत्वपूर्ण भूमिका को याद करें तो यह उनके लिए लाभदायक होगा।

प्रसिद्ध विचारक एवं पत्रकार देवेन्द्र स्वरूप आपातकाल के दौर में पत्रकारिता की भूमिका को 'निराशाजनक' मानते थे। उनके अनुसार- ''यह कहें कि पत्रकारिता ने सत्ता के समक्ष पूरी तरह घुटने टेक दिए। वास्तव में आजादी के बाद पत्रकारिता का चरित्र बदल गया, प्राथमिकताएँ बदल गई। इसी कारण इस दौर में पत्रकारिता ने व्यवस्था का समर्थन किया।''

हरीश खरे पत्रकारिता के बीच में प्रविष्टि एक नई बुराई की ओर संकेत करते हैं। उनके अनुसार, पत्रकारिता न्यूज रिपोर्टिंग न रहकर अपनी ओपीनियन और प्वाइंट ऑफ व्यू रखने की माध्यम मात्र रह गयी है।
नेहरूवादी-मार्क्सवादी बौद्धिक जमात में भी एक वर्ग है जो पत्रकारिता में स्टालिनवाद को नापसंद करता रहा है। यह वर्ग राष्ट्रवाद का मित्र भले ही न हो, परन्तु घोर असंतुलन का पक्षधर भी नहीं है।

विचारक राकेश सिन्हा के अनुसार ''इसका एक दूसरा पक्ष भी है। गैर-मार्क्सवादी-नेहरूवादी बौद्धिकता शोध के द्वारा टकराव से बचकर 'नैरेटिव ऑफ विक्टिमहुड' (प्रताड़ना की दुःखभरी दास्तान) लेकर वैचारिक लड़ाई में जीत-हार का सपना देखती रही। के.एम. मुंशी के भारतीय विद्या भवन के ईमानदार प्रयास के बाद कोई भी संगठित वैचारिक प्रयास लम्बे समय तक नहीं हुआ। दोषारोपण कर अपनी कमजोरी ढकने में इस श्रेणी के बौद्धिकों को महारत हासिल रही है। इसने भी नेहरूवादी-वामपंथी बौद्धिकता की आयु को बढ़ाने का काम किया है।''

श्री राकेश सिन्हा कहते हैं कि पत्रकारिता द्वारा राजनीति को मात्र चुनावी या सत्ता के परिवेश में नहीं देखना चाहिए, इसमें वैचारिक पक्ष को बराबर महत्व दिया जाना चाहिए। इसलिए पत्रकारिता व राजनीति के अंतर्संबंधों की व्याख्या में वैचारिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।

पत्रकारिता की प्रवृत्ति का अध्ययन ही संचार माध्यमों के इतिहास का गुणात्मक पक्ष है। पत्र-पत्रिकाएँ राजनीतिक दर्शन व राजनीतिक प्रक्रिया, समाज व संस्कृति को अपने ढंग से रख रही हैं। ऐसा इसलिए हो पा रहा है कि पाठकों का असंतुष्ट बहुमत मानसिक आलस्य का शिकार है। वह नापसंद भी करता है, आलोचना भी करता है, परन्तु निष्क्रिय भी है।

आज की सबसे बड़ी चुनौती पाठकों की निष्क्रियता को तोड़ना एवं बुद्धिजीवियों को कैरियर की होड़ से अलग करना है। जिस दिन इसमें सफलता मिलेगी उसी दिन से संचार माध्यमों की प्रकृति, स्वरूप, संरचना एवं संस्कृति बदलने लगेगी।

विदेशी पत्रकारों की अपेक्षा भारतीय पत्रकार देश के बारे में कहीं अधिक कटुतापर्ण रपट लिखते हैं। गुजरात

के बारे में छपी ऐसी ही रपटों से अनिवासी भारतीयों को शर्मिन्दगी का सामना करना पड़ा।

भारत एक आध्यात्मिक और नॉन-इम्परियलिस्टिक सभ्यता वाला देश है। भारत की संस्कृति, संस्कार एवं सभ्यता पर तंज और छीटाकशी मानसिक आलस्य और निष्क्रियता के कारण फलफूल रही है। संचार माध्यमों के विकृत या दुराग्रही चरित्र का दर्शन राष्ट्रीय अस्मिता से जुड़े अनेक मुद्दों पर होती है, उनमें श्री राम जन्मभूमि विवाद भी एक है।

मुझे नहीं याद कि संचार माध्यमों ने कभी भी यह बताया हो कि हिन्दुओं की पवित्र नगरी अयोध्या जी में श्री राम के जन्म स्थान पर उनके पुत्र कुश ने भव्य मन्दिर निर्माण किया था। सदियाँ बीतीं, युग बीते, लगभग 2000 वर्ष पूर्व सम्राट विक्रमादित्य ने श्री राम जन्मभूमि पर बने मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया। सन् 1528 में आक्रान्ता बाबर के सेनापति मीरबांकी एक लाख तिहत्तर हजार राम भक्तों की लाश गिर जाने के बाद ही श्री राम जन्मभूमि पर बने भव्य मन्दिर को तोप से उड़ा सका और एक बाबरी ढांचा खड़ा कर दिया। 76 बार आक्रमण हुए, 4 लाख से अधिक रामभक्तों ने अपने प्राणोत्सर्ग किये। इस सम्पूर्ण घटनाक्रम का वर्णन संचार माध्यम कभी नहीं करते।

हिन्दु हमेशा अपने आराध्य की जन्मभूमि पर बने ढांचे को देखकर आक्रोशित रहा। मुगल अकबर ने टोडरमल और बीरबल के द्वारा मध्यस्थता करवा कर जन्मभूमि पर राम चबूतरा बनवा दिया, क्रूर औरंगजेब ने इस स्थल को समाप्त करने का आदेश दिया, जिसका प्रतिकार करने के लिए श्री गुरुगोविन्द सिंह जी व बाबा वैष्णवदास ने मिल कर भीषण युद्ध किया। तेरह हजार हिन्दुओं की लाशों पर से चलकर दरिन्दों ने श्री राम चबूतरा ध्वस्त कर दिया। संघर्षों और बलिदानों का दौर कभी थमा नहीं 1885 में पहली बार श्री राम मन्दिर निर्माण के लिये फैजाबाद न्यायालय में मुकदमा दायर हुआ।

22-23 दिसम्बर 1949 की मध्य रात्रि बिजली चमकी और दिव्य तेज के साथ रामलला का विग्रह प्रकट हुआ। मुसलमानों द्वारा विरोध करने पर हिन्दू विरोधी नेहरू सरकार ने तुष्टिकरण की नीति अपना कर श्री राम जन्मभूमि पर ताले लगवा दिये। छः दिसम्बर 1992 को ढांचा टूटने के बाद मलबे से हिन्दू मन्दिर होने के अनेक साक्ष्य उद्घाटित हुए। इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा जन्मभूमि स्थान के नीचे कनाडा के विशेषज्ञों द्वारा राडार तरंगों से फोटोग्राफी कराई गई, खुदाई में सैंकड़ों वर्ष पूर्व के अवशेष पाये गये। भू-वैज्ञानिकों की सलाह पर उच्च न्यायालय ने भारत सरकार के पुरातत्व विभाग को उत्खनन का निर्देश दिया, छः महीने तक उत्खनन हुआ। पुरातत्व वेत्ताओं ने अपनी रिपोर्ट में लिखा कि उत्खनन में जो-जो वस्तुऐं मिली हैं वे सभी उत्तर भारतीय शैली के हिन्दू मन्दिर की वस्तुएँ हैं।

असंख्य साक्ष्यों के आधार पर उच्च न्यायालय ने 30 सितम्बर 2010 को रामलला के पक्ष में निर्णय सुना दिया। आज सर्वोच्च न्यायालय में राम जन्मभूमि अपील का विषय है। लेकिन आज संचार माध्यमों को संवेदनशील होना होगा, तथ्य सही रूप में विश्व के सामने लाने होंगे। संचार माध्यमों को अपने मूल्य, स्वतंत्रता एवं

दायित्व को संरक्षित एवं संवर्धित करना होगा। संचार माध्यम भूवैज्ञानिक एवं पुरातत्व विभाग द्वारा श्री राम जन्मभूमि स्थल पर किये गये अन्वेषण पर न चर्चा करता है और न ही यह उसकी पसन्द का विषय है।

श्रीराम जन्मभूमि स्थल पर रामलला का भव्य मन्दिर निर्माण राष्ट्रीय महत्त्व के साथ-साथ भारतीय संस्कृति एवं सम्पूर्ण विश्व को भी प्रभावित करता है। श्रीराम जन्मभूमि विवाद में जब भी न्यायालय में कोई भी प्रगति होती है, तो संचार माध्यमों के द्वारा दी गई सूचनाएँ सही जानकारी न देकर सनसनी फैलाती है। शब्दों की जादूगरी कुछ इस तरह की होती है कि समाज में उत्तेजना पैदा हो और उससे केवल जानकारी की पवित्रता हताहत होती है।

यह न्यायालय को भी पता रहता है कि न्यायालय की कार्यवाहियाँ किस रूप में संचार माध्यम से जनता तक पहुँच रही हैं। यह सच है कि राम जन्मभूमि का विषय एक संवेदनशील एवं गम्भीर विषय है, जिसमें अधिक सावधानी एवं संयम रखना चाहिए। संचार माध्यम देश के सूचना तंत्र के पोषक हैं और भारत के नागरिकों को जागरुक बनाते हैं। सूचना के अधिकार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सूचना सही हो, विश्वसनीय हो तथा शुद्ध हो। किसी व्यक्ति दल विशेष या विचार विशेष द्वारा टिप्पणी सूचना नहीं होती। टिप्पणी सूचना को अशुद्ध अशोभनीय व अविश्वसनीय एवं सनसनी फैलाने वाली बनाती है।

माननीय न्यायालय में न्यायाधीश जो भी आदेश पारित करते हैं वह आज संचार माध्यमों से तत्काल सम्पूर्ण विश्व को ज्ञात हो जाता है। 30 सितम्बर 2010 की सायं 3:55 मिनट पर राम जन्मभूमि के वाद में प्रयाग उच्च न्यायालय के तीन माननीय न्यायाधीशों की विशेष पूर्णपीठ ने निर्णय सुनाया और 4:10 मिनट पर दस हजार पृष्ठों से अधिक का निर्णय उच्च न्यायालय की वेबसाइट पर विश्व पटल पर उपलब्ध था। परन्तु अगले दिन के समाचार पत्रों में विचार विशेष को समर्पित कथित विशिष्ट व्यक्तियों की विपरीत टिप्पणियाँ संचार माध्यमें में प्रमुखता से थी, जिन्हें 30 सितम्बर 2010 को ही दस हजार पन्नों के निर्णय को पढ़े बिना संचार माध्यमों द्वारा गलत तरीके से विश्व पटल पर रखा गया। इस विषय पर माननीय न्यायाधीश कुछ भी नहीं कह सके।

इससे कुछ दिन पूर्व ही विशेष पूर्णपीठ ने संचार माध्यमों के बारे में यह कहना उचित समझा था कि मीडिया किसी भी सम्भावित प्रतिक्रिया या अवांछित प्रतिक्रिया से बचे, क्योंकि गलत एवं अशुद्ध सूचना से बहुत अधिक गम्भीर परिणाम होने की सम्भावना है। जैसा कि दृष्टांत रूप से मुम्बई आंतकवादी हमले के समय संचार माध्यमों ने अपने कर्यव्यों का संयमित सतर्क पानल नहीं किया। हम सभी देशवासी आशा व विश्वास करते हैं कि न्यायालय की टिप्पणियों को मीडिया सही परिप्रेक्ष्य में और अपने दायित्व का आत्म संयम आत्म जागरूक एवं अधिक सतर्क तरीके से पालन करे।

सच यह कि इतिहास केवल एवं केवल ऐतिहासिक राजा की कहानी होती है। लिखने वाला केवल और केवल राजा के विषय में लिखता है और अगर राजदरबारी है तो चापलूसी की हद तक मिथ्या प्रशंसा करता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में राजा कभी गलती नहीं करता है "King can do no wrong" जबकि अगर संचार माध्यम अपने दायित्व का निर्वहन करते हुए विश्वसनीय सत्य एवं शुद्ध सूचना का प्रसारण करें तभी वह इतिहास बनता है।

यह कहने आवश्यकता नहीं है कि राम जन्मभूमि के निर्णय को पूरा सम्मान मिलना चाहिए और इस विषय का तब तक निश्चित तौर पर अंत नहीं होगा, जब तक की सभी पक्षों द्वारा इसे स्वीकार न कर लिया जाये। यह सच है कि रामलला के बारे में सभी संचार माध्यम एवं समाचार केवल और केवल अटकलें लगाते हैं। वह सही तथ्यों को बताने की न तो चेष्टा करते हैं और न ही प्रयास। संचार माध्यम हमेशा असंगत, गैरसंवैधानिक, अन्यायपूर्ण उद्धरणों को ही सामने लाते हैं। समाचार एवं संचार माध्यमों का अपना अलग ही उद्देश्य होता है।

Faustian Bargain

संचार एवं समाचार माध्यमों का अपना निहित स्वार्थ होता है। मीडिया का अपना व्यक्तिगत लक्ष्य होता है, मीडिया उत्तेजना फैलाता है, मीडिया सनसनी फैलाता है, मीडिया केवल और केवल प्रचार करता है। संचार माध्यम संवेदना रहित होता है। यानी असंवेदनशील होता है।

Media Tentalize, Media Sensationalize & Sensualise with hype, Media Scandalize, Media invades Media splash and show.

It is a Faustian Bargain शैतानी ताकतों के सामने आध्यात्मिक सत्य का समपर्ण 'फास्टियन बार्गेन' पश्चिम जगत की एक ऐसी अवधारणा है जिसमें जानकारी के लिए शैतान के सामने समर्पण की बात कही गई है।

यहाँ मैं मोहवश फाउन्टेन हैड को संदर्भित करने से रोक नहीं पा रहा हूँ-

'आज जो उपदेश दिया जा रहा है उसे सुनो। हमारे चारों ओर के लोगों को देखो। आपने सोचा वे क्यों पीड़ित हैं, वे खुशी क्यों चाहते हैं और इसे कभी नहीं पाते हैं। यदि कभी कोई व्यक्ति रुका और अपने आप से पूछा कि क्या कभी वास्तव में वह अपनी व्यक्तिगत इच्छा रखता है, वह देखेगा उसकी सभी इच्छाएँ, उसके प्रभाव, उसके स्वप्न, उसकी महत्वाकांक्षाए दूसरे के द्वारा प्रेरित होती हैं।'[2]

और आज वह दूसरा व्यक्ति मीडिया है।

अपनी आत्मा को बेचना दुनिया में सबसे आसान काम है। यही हर कोई अपने जीवन के हर घंटे करता है। यदि मैं आप से आपकी आत्मा को बचाने के लिए कहूँ.... तो क्या आप समझ पाएँगे कि यह बहुत कठिन क्यों है? यह हमेशा एक 'फास्टियन बार्गेन' है। समझाने के लिए सबसे अधिक कठिनाई यह है कि स्पष्ट रूप से हर

2. Listen to what is being preached today. Look at everyone around us. You've wondered why they suffer, whey they seek happiness and never find it. If any man stopped and asked himself whether he has ever held a truly personal desire, he'el find the answer. He'el see that all his wishes his effects, his dreams, his ambitions are motivated by other men. (Fountain head - Ayn Rend).

किसी ने नहीं देखने का फैसला कर लिया है।[3]

(और मीडिया उसी के लिए उत्प्रेरक है)

सभी संचार माध्यमों को केवल अपने अनियंत्रित विस्तार की चिंता है। हर चैनल केवल अपने टी.आर.पी. (टेलीविजन रेटिंग प्वाइंट) की चिंता करता है। आज की दुनिया में सभी ई-मीडिया पर निर्भर हैं। यह केवल एक परिदृश्य है, जो सामाजिक प्लेटफार्म बनाता है। यह सत्य नहीं केवल एक काल्पनिक आभास है। क्या हम शैतान के सपनों की दुनिया को सच नहीं कर रहे है। Facebook, Whatsapp, Twitter, etc. क्या है? यह गूगल, एप्पल, अमेजन क्या है? प्राइम, नेटफ्लीक्स, हॉटस्टार क्या है? संचार माध्यम बिना किसी लक्ष्य की न रुकने वाली क्रांति है, एक निजता है और इस क्रांति का नेतृव्य भी परिणाम की भविष्यवाणी नहीं कर सकता।

श्रीराम जन्मभूमि आन्दोलन और उसमें संचार माध्यमों का अपना खेल तो एक बहुत छोटा सा हिस्सा है, लेकिन वह भारतीय संस्कृति एवं संस्कार साथ ही साथ भारत के सनातन मूल्यों पर एक बहुत बड़ी चोट है और हम सभी भारतीय बुरी तरह से हताहत हो गये हैं।

संचार माध्यमों की विश्वसनीयता का संरक्षण एवं परिवर्धन, प्रजातंत्र एवं गणतंत्र की रक्षा के लिए आवश्यक है, लेकिन बिना प्रमाण के भारतीय संचार माध्यम विघटन फैला रहे हैं, गलत जानकारी दे रहे हैं। झूठी जानकारी दे रहे हैं। अपुष्ट जानकारी दे रहे हैं। सबसे बड़ी चिंता का विषय है कि संचार माध्यम विदेशी ताकतों के हाथ में खेल रहे हैं और राष्ट्र विरोधी ताकतें दुर्भावना के साथ हमारे संचार माध्यमों का दुरुपयोग कर रही हैं। तथ्य क्या है, उसका विश्लेषण क्या है, उसपर टिप्पणी क्या है, इसका संचार माध्यमों में गड़बड़ घोटाला है। सोशल मीडिया काउंसिल आज की आवश्यकता है। सामूहिक एवं सामाजिक संचार माध्यमों की एक परिषद आज भारत वर्ष की आवश्यकता है, जो सभी संचार माध्यमों के मानकों को सुधार सके और उसकी आचार संहिता बना सके।

आवश्यकता है कि सामूहिक एवं सामाजिक संचार माध्यम अपने प्रसार के साथ-साथ सार्वजनिक सेवा की भावना को बढ़ाएं और अपने दायित्वों को समझ सकें। सभी वर्गों के संचार माध्यमों के बीच उचित कार्यात्मक सम्बन्ध होना चाहिए और एक नियामक प्राधिकरण के द्वारा सामाजिक, संचार माध्यमों को विनियमितिकरण होना चाहिए। यहाँ यह ध्यान में आता है कि भारत में समाचार पत्रों हेतु पहली बार 1966 में प्रेस काउन्सिल स्थापित की गयी थी, जिसे आपातकाल में भंग कर दिया गया और इसकी पुनर्स्थापना 01 मार्च 1979 को हो पायी, लेकिन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समाचार-पत्र एवं पत्रिकाओं सहित सभी प्रकार के सामूहिक एवं सामाजिक संचार माध्यमों के विनियमितिकरण के हेतु एक परिषद की आवश्यकता है, जो सभी पहलुओं पर विचार कर संचार माध्यमों की स्वतंत्रता को संरक्षित

3. To sell your soul is the easiest thing in the world. That's what everybody does every hour of his life. If I asked you to keep your soul …. would u understand why that's much harder? It is always a Faustian Bargain. The hardest thing to explain is the glaringly evident which everybody has decided not to see. (And the media is the Catalyst for the same).

एवं संवर्धित करें, जिसका प्रारम्भ सामूहिक एवं सामाजिक आयोग के माध्यम से किया जाए।

आशा ही नहीं विश्वास है कि भारत में पत्रकारिता एवं सभी संचार माध्यम अपनी संस्कृति, संस्कार एवं मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में अपनी स्वतंत्रता एवं दायित्व का निर्वहन, संरक्षण एवं संवर्धन के साथ-साथ देश के वैभव में अपना योगदान करने में सफल रहेंगे।

मैं समझता हूँ कि आज की सबसे बड़ी आवश्यकता भारत की सही पहचान को पुनः प्रतिष्ठित करना है और वह प्रतिष्ठा दीनदयाल जी के एकात्म मानववाद से ही हो सकेगी। एकात्म दृष्टि, सनातन धर्म या हिन्दुत्व ये शब्द भले ही अलग-अलग हैं किन्तु इनके अर्थ एक हैं। एकात्म दृष्टि हमारे इस आध्यात्मिक राष्ट्र की विविध रचनाओं का आधार रही है और इस देश में जो बिखराव आ रहा है उसे भी एकात्म दृष्टि के माध्यम से ही रोका जा सकता है, दूसरा कोई अन्य मार्ग नहीं है।

- श्रद्धेय अशोक सिंहल

अरुंधती वशिष्ठ अनुसन्धान पीठ

महावीर भवन, 21/16, हाशिमपुर रोड, टैगोर टाउन, प्रयागराज-211002
फोन एवं फैक्स : 91-532-2466563, मो0 919453929211
E-mail : nationalthought@gmail.com
Web : www.avap.org.in

2230-7001

Price : 150/-